श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ अगस्त—१९९५ अंक—८

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० मागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११६. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री बालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४ श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)
१२६. विवेकानन्द युवा महामंडल, इन्दौर (म० प्र०)
१२७ श्री आनन्द यश चोपड़ा, अलॉग(अरुणाचल प्रदेश)
१२८. सुश्री सेजल क० मान्डवीय, जूनागढ़ (गुजरात)
१३०. श्री विजय कुमार रामसेवक गुप्ता, नागपुर
१३१. श्री जी. के. दीक्षित, वरोदा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स - मंडेरदिशा (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल—लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय - लुमडिंग (आसाम)
१३९. श्री अमुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर बाल वाचनालय —चन्दावल नगर(राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेल्हन—नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र—एन० सी० हिल्स
१४९. श्री बी० बी० शेरपा—लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल नगांव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका- कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी—इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा—काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी—राजकोट (गुजरात)
१५. . श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८ श्री अशोक कौशिक—मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिक

वर्ष—१४ अगस्त—१९९५ अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक।
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा – ८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति —	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

सुबह-शाम ताली बजाते हुए हरिनाम गाया करो, ऐसा करने से तुम्हारे सब पाप-ताप दूर हो जाएँगे। जैसे पेड़ के नीचे खड़े होकर ताली बजाने से पेड़ पर के सब पंछी उड़ जाते हैं, वैसे ही ताली बजाते हुए हरिनाम लेने से देहरूपी वृक्ष पर से सब अविद्यारूपी चिड़ियाँ उड़ जाती हैं।

(२)

नाम क्या कम है? नाम और नामी अभिन्न हैं! सत्यभामा ने तुला पर एक ओर श्रीकृष्ण को चढ़ाकर दूसरी ओर स्वर्ण, मणि-मणिक्य आदि रखते हुए उन्हें तौलना चाहा, पर उसका सारा प्रयत्न असफल हुआ। परन्तु जब रुक्मिणी ने दूसरे पल्ले में तुलसी-पत्र और कृष्णनाम लिखकर धर दिया तब दोनों पल्लों का भार समान हो गया।

(३)

गोपियों की निष्ठा कितनी अपूर्व थी। मथुरा जाकर द्वारपाल से कितनी मिन्नतें करने के बाद वे सभा में प्रवेश कर पायी। परन्तु द्वारपाल की सहायता से सभा में जाकर जब उन्होंने राजवेश में साफा बाँधे हुए श्रीकृष्ण को देखा तो उन्होंने सर नीचा कर लिया और आपस में फिसफिसाने लगी—"भला यह पगड़ीवाला कौन है! इसके साथ बातचीत कर अन्त में हम क्या द्विचारिणी बनें? हमारे वे पीतवसन और मोरमुकुट धारण करनेवाले प्राणवल्लभ मोहन कहाँ हैं?" देखा, कितनी निष्ठा थी!

(४)

जब एक बार हरि का नाम सुनते ही किसी के नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगें और देह में रोमांच हो जाए तो अवश्य जानना कि उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है।

रे मन कृष्णनाम कहि लीजै

—महाकवि सूरदास

रे मन कृष्णनाम कहि लीजै।
गुरु के वचन अटल करि मानहि, साधु समागम कीजै ।।

पढ़िये गुनिये भगति भागवत, और कहा कथि दीजै।
कृष्णनाम बिनु जनमु बादिही, बिरथा काहे जीजै ।।

कृष्णनाम-रस बह्यो जात है, तृषावंत ह्वै पीजै।
सूरदास हरिसरन ताकिये, जनम सफल करि लीजै ।।

मन रे परसि हरि के चरण

—मीरा बाई

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध ज्वाला हरण।
जिन चरण प्रह्लाद परसे इन्द्र पदवी धरण ।।

जिन चरण ध्रुव अटल कीन्हें राखि अपनी शरण।
जिन चरण ब्रह्माण्ड भेट्यो नखसिखां सिरी धरण ।।

जिन चरण प्रभु परस लीने तरी गौतम धरण।
जिन चरण काली नाग नाथ्यो गोप लीला करण ।।

जिन चरण गोवरधन धार्यो गर्व मधवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरिधर परम तारण तरण ।।

श्रीरामकृष्ण : अनुचिन्तन

—श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द
— परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, बेलुड़मठ ।

ॐ निरञ्जनं नित्यमनन्तरूपं
भक्तानुकम्पाधृतं विग्रहं वै ।
ईशावतारं परमेशमीड्यं
तं रामकृष्णं शिरसा नमामः ।।

श्री भगवान ने कहा है :

"नाहं तिष्ठामि बैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।"

—हे नारद, मैं बैकुण्ठ में नहीं रहता हूँ, योगियों के हृदय में भी निवास नहीं करता हूँ । जहाँ भक्तगण मेरा नामगुणगान करते हैं, मैं वहीं निवास करता हूँ ।

श्रीरामकृष्ण के भाव में भावित हो, सारा दिन उनको लेकर, उनका चिन्तन कर, उनके नाम का गुणगान कर व्यतीत करने के लिए आप लोग पुण्य भूमि योगोद्यान मठ में एकत्र हुए हैं । ये सब भक्त सम्मेलन उनको ही गहन भाव से स्मरण करने के लिए आयोजित होते हैं । भक्त सम्मेलन केवल आजकल शुरू हुए हैं, ऐसा नहीं है । वस्तुतः श्री श्रीठाकुर (श्रीरामकृष्ण) स्वयं ही इसका शुभारम्भ कर गये हैं । जब वे दक्षिणेश्वर में थे, नित्य अपने छोटे कमरे में भक्तों को लेकर बैकुण्ठ की सृष्टि कर वे स्वयं आनन्द में प्रवाहित होते एवं उनके दिव्य सान्निध्य में एकत्र भक्तगण भी आनन्द-सागर में प्रवाहित हुआ करते थे । केवल यही नहीं, बलराम मन्दिर—जिसे वे "मेरा बैठकखाना" कहा करते, वहाँ भी श्री श्रीठाकुर के शुभ पदार्पण और निवास को उपलक्ष कर सदा ही इस आनन्द की हाट लगा करती थी । उनके पवित्र सान्निध्य में सबके मन में एक अलौकिक आनन्द की लहरें उठा करती थीं ।

वे त्रितापदग्ध मनुष्यों के मन में शान्तिवारि का सिंचन करने, मनुष्य के भीतर प्रसुप्त देवत्व को जाग्रत करने तथा ईश्वर में भक्ति-विश्वास को और अधिक दृढ़ करने के लिए आये थे । उन्होंने बार-बार कहा है : "मनुष्य जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-लाभ करना ।" वे कहा करते थे, संसार में रहो, किन्तु संसार करो ईश्वर को लेकर । सभी कार्यों के बीच उनको पकड़े रहने से और जटिलता नहीं रहती । असल बात है भगवान् को प्रेम करना, उनके शरणागत होना । वे हमलोगों के नितान्त अपने हैं, सबसे अधिक अपने—यह बोध मन में सदैव बनाये रखना होगा और इसके लिए ही सारे जप-ध्यान, पूजा-पाठ, तीर्थ-भ्रमण आदि हैं । सभी कार्यों में उनको पकड़े रह पाने से धीरे-धीरे उनकी कृपा का अनुभव होगा । ईश्वर को किस प्रकार प्रेम करना होगा, उसका चरम दृष्टान्त वे स्वयं दिखा दिये हैं । जो सब भाग्यवान नर-नारी उनके सान्निध्य में आ गये थे, उनलोगों ने भी यह देखकर अपने जीवन को धन्य किया था । तब उनकी (श्रीठाकुर की) भाँति साधन-भजन करना हमलोगों के लिए सम्भव नहीं है, और यह बात वे स्वयं भी जानते थे । इसी से वे कह गये हैं—मैं सोलह आना करता हूँ, तुम लोग एक आना करो ।

गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है :

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।"

(स्वल्प धर्म भी महान् भय से रक्षा करता है)

—महान् भय क्या है ?— यही विकट संसार-बन्धन । इससे मुक्त होना होगा । उनके भाव से स्वयं को रंगना होगा । उन्हें (ईश्वर को) जान लूँगा, यह कभी सम्भव नहीं है । 'न नौ मन घी होगा, न राधा नाचेगी ।' हमलोगों को वह आधार कहाँ है, वह भाव, भक्ति विश्वास कहाँ है ? दिन-रात निरन्तर संसार-ज्वाला में जलकर मर रहा है फिर भी यह बात मन में नहीं रह पाती । मुँह में जाल में लेकर कीचड में धँसी हुई मछली की तरह हमलोग मजे में हैं ।

इसीलिए साधुसंग, सद्ग्रन्थ पाठ, ईश्वर नाम का गुणगान करने की जरूरत है । साधुसंग के प्रसंग में स्मरण हो रहा है—स्वामी शारदानन्दजी महाराज से एक नवागत व्यक्ति ने बातचीत के क्रम में कहा था : "साधुसंग करने आया हूँ ।" यह सुनकर स्वामी शारदानन्दजी महाराज ने कहा था । श्री श्रीठाकुर जब दक्षिणेश्वर में थे, तब कालीबाड़ी के रसोइये, नौकर, कर्मचारीगण चौवीस घण्टे उनके साथ हो रहते तथा टोले, मुहल्ले के लोग भी सदैव वहाँ आते-जाते रहते, ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) को देखते; किन्तु किसी के जीवन में उल्लेखनीय कुछ परिवर्त्तन हुआ है, ऐसा तो सुना नहीं जाता ।" आश्चर्य का विषय है कि श्री श्रीठाकुर का पावन सान्निध्य भी उनलोगों के जीवन में कोई परिवर्त्तन नहीं ला सका । कारण यह है कि ऐसे मन से वे वहाँ जाते नहीं थे । इस मन को ही ठीक करना होगा । बीच-बीच में देखना होगा कि सही-सही चल रहा है या नहीं । ठाकुर कहा करते थे । "चावल छाँटते-छाँटते हाथ में चावल लेकर देखना पड़ता है कि ठीक से छाँटा गया कि नहीं ।" साधक के जीवन में इसकी विशेष रूप से जरूरत है । इसीमे उन्होंने कहा है, बीच-बीच में निर्जन-वास, साधुसंग भगवान् का नाम-कीर्तन आदि करना होगा ।

यह सब करने से क्या होगा ? भगवान का नाम गुणगान करने से मन क्रमशः शुद्ध पवित्र होगा; भगवान की ओर आकर्षण का मन अनुभव करेगा । साधुसंग, अर्थात् जो भगवान के भक्त हैं, भगवान को प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं, उनलोगों का संग करना, उनलोगों के साथ रहना । इससे मन में यह धारणा दृढ़ होती है कि किस प्रकार जीवन को तैयार करना होगा । इसके बाद निर्जन में जाकर जो धारणा हुई उसका अनुशीलन-चिन्तन करना होगा । अर्थात् जो सुना, जो देखा उसपर बार-बार भली-भाँति विचार करना होगा । इससे मन शुद्ध होगा । इस शुद्ध मन में ही भगवान प्रकाशित होंगे । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे : "जो व्रह्मवाणी और मन से परे हैं वे ही शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि द्वारा गोचर होते हैं ।"

किन्तु त्याग के बिना कुछ नहीं होगा । श्रीरामकृष्ण ने भी कहा है "त्याग के बिना कुछ नहीं होगा बच्चा ।" संसार में जो कोई, चाहे जिस किसी अवस्था में क्यों न रहे, त्याग ही सार तत्व है । इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है । कोई कहते हैं हमलोग संसारी आदमी हैं । हमलोगों के लिए सब कुछ त्याग करने का क्या उपाय है ? इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं, तुमलोगों को बाहरी त्याग नहीं करना होगा । मन में त्याग करने से ही हो जाएगा । अर्थात् त्याग के अतिरिक्त ईश्वर को पाने का दूसरा कोई साधन नहीं है – यह उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है । लेकिन यह अनुशासन किसी के लिए आन्तरिक और बाह्य

त्याग तथा किसी के लिए केवल आन्तरिक त्याग, परिस्थिति के अनुसार, ही करना होगा। इस त्याग के दीपक को सदा जलाये रखना होगा। त्याग का अर्थ घर-द्वार छोड़ना नहीं, वासना का त्याग करना है। इसी वासना-कामना के लिए हमलोग सब कुछ खो बैठे हैं। सैकड़ों आघात लगने पर भी हमलोगों को चेतना नहीं आती है। भोग की आकांक्षा भोग के साथ-साथ बढ़ती ही जाती है। केवल त्याग के द्वारा ही वह शान्त हो सकती है। श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन के द्वारा इसी त्याग के आदर्श को ज्वलन्त रूप से प्रकाशित किया है। असह्य रोग-यातना के समय भी वे हमलोगों को आशीर्वाद दे गये हैं। "तुम लोगों को चैतन्य प्राप्त हो।'

हमलोग जब उनका चिन्तन करेंगे, तब उनका शुद्ध जीवन पवित्रता, त्याग, ईश्वर तन्मयता—इन सब पर भी खूब श्रद्धा से विचार करना होगा। ये भाव ही हैं। श्रीरामकृष्ण का स्वरूप। इसलिए उनके जीवन और वचनों का जितना अधिक विवेचन होगा, अनुचिन्तन किया जाएगा, उनके सम्बन्ध में हमलोगों की धारणा उतनी ही स्पष्ट हो जायेगी। परिणामस्वरूप हमलोगों का पथ भी सहज होगा। किन्तु उनका नाम-गान करने, उनके आदर्श को जीवन में ग्रहण करने पर भी यदि हमलोगों का जीवन संयत नहीं हो तो यह हमलोगों के द्वारा आत्मप्रवंचना करना ही होगा—जिसे ठाकुर की भाषा में 'भाव के घर में चोरी' कहा जायेगा। इस सम्बन्ध में हमलोगों को खूब सतक रहना होगा।

मैं आशा करता हूँ कि इस भक्त सम्मेलन के माध्यम से हमलोग कम-से-कम एक दिन के लिए होने पर भी, सारी विषय-वासनाओं को त्याग कर केवल श्रीरामकृष्ण के अनुचिन्तन में ही इस दिन को व्यतीत कर सकेंगे। इससे हमलोगों के मन में नयी चेतना का संचार होगा एवं उसके आनन्द की ध्वनि का स्मरण कर आने वाले दिनों को भी हम आनन्द से बितायेंगे।

श्री श्रीठाकुर की कृपा सब पर बरसे, वे हमलोगों को शुद्ध बुद्धि दें जिससे हमलोग उनके आदर्श का अनुसरण कर अपने जीवन को सार्थक कर सकें।*

---

* गत १२ मार्च, १९९५ को काँकुड़गाछी रामकृष्ण योगोद्यान मठ में आयोजित भक्त सम्मेलन में दिए गये पूज्यपाद महाराज के आशीर्वचनों का जुलाई, ९५ के उद्बोधन से अनुवाद। अनुवादक हैं—डॉ० केदारनाथ लाभ - सम्पादक।

दुर्बलता ही संसार में समस्त दुःखों का कारण है।

हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-फरेब तथा इस प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

पार्थसारथी श्रीकृष्ण : एक संपूर्ण जीवनादर्श

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

धर्म ग्रन्थों में रथ

सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को प्राय: दृष्टांतों एवं आख्यायिकाओं तथा रूपकों की सहायता से समझाया जाता है। 'रथ' भी ऐसा ही एक रूपक है, जिसका उपयोग आध्यात्मिक साहित्य में काफी किया गया है। कठोपनिषद् में देह की तुलना रथ से की गयी है तथा उसकी सहायता से जीवात्मा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ॥

अर्थात् ! "आत्मा को रथी और शरीर को रथ जानो। बुद्धि को सारथी एवं मन को लगाम जानो। इन्द्रियाँ घोड़े कहलाती हैं, जो विषयरूपी मार्गों पर धावित होती हैं। इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि से युक्त आत्मा को भोक्ता अर्थात् जीव कहते हैं।"

रामचरित-मानस के पाठक लंका काण्ड में वर्णित 'धर्म रथ' से परिचित ही हैं।

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा।
देखि बिभीषन भयउ अधीरा ॥
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा।
बन्दि चरन कह सहित सनेहा ॥

नाथ न रथ नहि तन पद त्राना।
केहि विधि जितब बीर बलवाना ॥

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ॥

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥

बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे ॥

ईस भजनु सारथी सुजाना।
विरति धर्म सन्तोष कृपाना ॥

यहाँ नैतिक आदर्शों से युक्त एक सुन्दर रथ का वर्णन किया गया है, जिसमें शौर्य और धैर्य पहिये हैं, सत्य और शील की ध्वजा और पताका हैं। बल, विवेक, दम और परहित घोड़े हैं, जो कृपा क्षमा और समता की लगाम से बँधे हुए हैं। ईश्वर का भजन इस धर्म-रथ का सारथी है।

फिर श्री जगन्नाथ महाप्रभु का भी एक प्रसिद्ध रथ है, जिसे वैष्णव इतना पवित्र मानते हैं कि ऐसी मान्यता है कि उसमें विराजित भगवान का दर्शन जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति प्रदान करता है। 'रथे च वामनं दृष्टवा पुनर्जन्म न विद्यते।' लेकिन अन्य लोग इस कथन को देह रूपी रथ में आसीन शुद्ध चैतन्य, आत्मा के दर्शन के अर्थ में लेते हैं।

एक और भी रथ है जिससे सभी हिन्दू परिचित हैं—अर्जुन का वह रथ, जिसपर बैठकर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था। श्रीमद्भगवद्गीता के इतने लोकप्रिय होने, तथा उसके उपदेशों के इतने महत्वपूर्ण होने के कारण जिस रथ पर बैठकर उसका गान हुआ था, उसका महत्त्व गौण हो जाता है। सामान्यत: यह रथ एक वाहन मात्र समझा जाता है, तथा इससे अधिक उसकी कोई सार्थकता भी हो सकती है, इस ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। गीतागायक श्रीकृष्ण के अनेक चित्र खींचे जा चुके हैं, किन्तु वर्तमान काल में स्वामी विवेकानन्द ने ही इसके आध्यात्मिक महत्त्व की ओर संकेत किया है। स्वामीजी कहते हैं "श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा ही होना चाहिए, जैसे वे थे—गीता के मूर्तस्वरूप! ····· शरीर का एक-एक अंग कार्यरत है और फिर भी मुख पर नील गगन की गंभीर शान्ति और प्रसन्नता व्याप्त है। यही तो गीता का मूल तत्त्व है—सब परिस्थितियों में शांत और स्थिर, अनुद्विग्न रहते हुए— शरीर, मन और आत्मा को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना।" (विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड १९६३, पृ० २३८-२३९) वस्तुत: यह रथ एक अत्यन्त उपयोगी ध्यान-चित्र है, जिसमें कठोपनिषद् के दार्शनिक तत्वों तथा रामचरित मानस के धर्मरथ के नैतिक आदर्शों का समावेश तो है ही, यह अपने में उनसे भी उच्चतर आदर्श प्रकट करता है।

रथ का आध्यात्मिक महत्त्व

रथ का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "श्रीकृष्ण ने घोड़ों की रास इस प्रकार पकड़ रखी है—रास इतनी तनी है कि घोड़े अपने पिछले पैरों पर उठ गये हैं, उनके अगले पैर हवा में उठे हैं, और मुँह खुल गये हैं।" (वि० सा० ख० ८, पृ० २३८) शक्तिशाली, चंचल, दौड़ने को आतुर घोड़े तीक्ष्ण, एवं प्रबल इन्द्रियों के प्रतीक हैं, जिन्हें मन रूपी लगाम द्वारा संयत रखा गया है।

इन्द्रियाँ स्वभावत: बहिर्मुखी होती हैं। इन्द्रियों की बाहरी विषयों की ओर भागने की यह प्रवृत्ति उन्हें अन्तर्मुखी करके आत्मा का दर्शन करने के इच्छुक साधक की सबसे बड़ी समस्या है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है।

> पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्
> पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुर-
> मृतत्वमिच्छन ॥ क० उ० २-१-१

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो उनकी हत्या ही कर डाली। अत: वे बाहर देखती हैं; भीतर की ओर नहीं। अमृतत्व की इच्छा करने वाला कोई धीर प्रत्यगात्मा को देखने के लिए चक्षुओं को अन्तर्मुखा बनाता है।

गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपनी देह के भीतर खींच लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से अलग कर लेना चाहिए। लेकिन मानव को ज्ञानेन्द्रियाँ कछुए के पैरों की तरह नहीं है, जिन्हें भीतर खींच लिया जा सके। अधिक-से-अधिक आँखें मुँद ली जा सकती हैं, या कानों में रूई ठूँस कर उन्हें बन्द कर लिया जा सकता है, लेकिन नाक और त्वचा यदि अपने विषयों के संस्पर्श में आयें तो संवेदन प्राप्त होता ही रहेगा। कुछ लोग विषय-संस्पर्श से बचने के लिए निर्जन में चले जाते हैं। कुछ अन्य मूर्खतापूर्वक कठोर तपस्या द्वारा शरीर को कृश करके इन्द्रियों को दुर्बल करने का प्रयत्न करते हैं। यह तो मानो घोड़ों को मार-मार कर अधमरा बनाने जैसा है। लेकिन इन्द्रिय संयम का यह सही तरीका नहीं है।

वस्तुत: बहिरिन्द्रिय तो मस्तिष्क में स्थित वास्तविक इन्द्रिय का बाह्य गोलक मात्र है, जिससे वह स्नायुओं (Nerves) के द्वारा जुड़ी हुई है। अत: मस्तिष्क में स्थित अन्तरिन्द्रियों का नियमन ही वास्तविक इन्द्रिय-संयम है। आध्यात्मिक महापुरुषों में भी यही बात देखने को मिलती है। चैतन्य महाप्रभु की जिह्वा पर चीनी डाल देने पर भी उन्हें उसका स्वाद नहीं मिला और लार के अभाव में वह हवा से उड़ गयी। श्रीरामकृष्ण के प्रचलित चित्र में उनकी आँखें खुली हुई हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि यह चित्र उनकी उच्च समाधि अवस्था का है, जब उनकी बाह्य चेतना का पूरी तरह लोप हो गया था। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों के तीक्ष्ण और सबल होते हुए भी उनका आन्तरिक निरोध किया जा सकता है, और यही वास्तविक निरोध है।

लगाम द्वारा परिलक्षित मन कैसा होना चाहिए ? गीता के अनुसार जब मनुष्य मन की समस्त कामनाओं का त्याग करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। मन में असंख्य विचार एक के बाद एक उठते रहते हैं; किन्तु कामनाएँ तभी पैदा होती हैं, जब विषयों के साथ वह आसक्त हो जाता है, 'संगात्संजायते काम:' अत: आसक्ति एवं रागद्वेष रहित व्यक्ति विषयों के बीच भी अविचलित रह सकता है। मन में उठ रहे असंख्य विचारों का प्रवाह हानिकारक नहीं है, किन्तु आसक्ति एवं रागद्वेष से प्रेरित हो विषयों को प्राप्त करने की तथा कर्मों के फलों की इच्छा, जो कामना कहलाती है, वह बन्धन का कारण है। गीता में इसे 'संकल्पप्रभवान् कामान्' कहा गया है तथा संकल्प परित्याग का बार-बार निर्देश दिया गया है। श्रेष्ठ भक्त अथवा गुणातीत मुनि अपने मन में उठ रहे विचारों को इच्छा में परिणत नहीं होने देता। वह सर्वारंभ एवं सर्व संकल्पों का त्याग करता है।

रथ की लगाम सारथी के हाथ में रहती है, जो बुद्धि का प्रतीक है। बुद्धि एकनिष्ठ एवं भगवान में निविष्ट होनी चाहिए वस्तुत: अपने तथा बहिर्जगत के प्रति हमारा दृष्टिकोण ही बुद्धि कहलाता है। गीता में विशेषत: द्वितीय अध्याय में, जहाँ सांख्य-बुद्धि तथा योग बुद्धि का वर्णन है इस शब्द उपयोग इसी अर्थ में किया गया है। (गीता, २, ३९) अधिकांश लोगों की देह के प्रति आत्मबुद्धि तथा संसार के प्रति ममत्वबुद्धि रहती है। "मैं देह हूँ तथा जगत के विषय पदार्थ मेरे हैं" यही है अहंता और ममता, जो बन्धन का कारण है। इसी के कारण मन इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागने लगता है। लेकिन जब यह बोध हो जाता है कि मैं नश्वर देह नहीं बल्कि नित्य अमर आत्मा हूँ, तथा बाह्य जगत् अस्थायी एव क्षणभंगुर है, तब मन शान्त हो जाता है, और इन्द्रियाँ भी सहज ही अन्तर्मुखी हो जाती हैं।

तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ सतेज एवं बलवान लेकिन संयत हों, मन, कामना, रागद्वेष तथा संकल्पों से रहित हों तथा बुद्धि अहंता-ममता से रहित होकर परमात्मा में निविष्ट हो। ऐसे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों वाला साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है, जिसे कठोपनिषद् में विष्णु पद् कहा गया है।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मन: प्रग्रहवान्नर:।
सोऽध्वन: पारमाप्नोति तद्विष्णो: परमं पदम् ॥
१·३·९

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कामनाओं का परित्याग करनेवाला जो व्यक्ति अहंता और ममता रहित होकर निस्पृह भाव से विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।

विहाय कामान्य: सर्वान् पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: च शान्तिमधिगच्छति ॥२·७१

इसी को ब्राह्मी स्थिति भी कहा गया है और इसे प्राप्त करने वाला ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहलाता है। इस प्रकार यह रथ सांकेतिक रूप से गीता के मूल संदेश 'स्थितप्रज्ञदर्शन' को प्रकट करता है।

पार्थसारथी श्रीकृष्ण

उपर्युक्त वर्णन में हमने गीता एवं कठोपनिषद् की सहायता से रथ के आध्यात्मिक महत्त्व को समझाने का प्रयत्न किया है। लेकिन सारथी के स्थान पर भगवान श्रीकृष्ण की उपस्थिति समग्र चित्र को जो विशेष महत्त्व प्रदान करती है, उसकी ओर स्वामी विवेकानन्द ने विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। विषादग्रस्त अर्जुन के रूप चित्रित बद्ध जीव का मार्गदर्शन श्रीकृष्ण कर रहे हैं। 'धर्मरथ' में कहा गया है कि 'ईस भजनु सारथी सुजाना' यदि हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। जिस जीव के भगवान स्वयं सारथी हों, उसके सौभाग्य के तो फिर क्या कहने ?

भगवान का सारथी होना एक और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भगवान् स्थितप्रज्ञ अथवा विष्णु-पद प्राप्त करने वाले योगी नहीं हैं। वे तो स्वयं विष्णु हैं। अत: भगवान की उपस्थिति स्थितप्रज्ञ दर्शन से भी उच्चतर आदर्श की ओर इंगित करती है। स्थितप्रज्ञ अवस्था की प्राप्ति के बाद एक मुनि को बन्धन में पड़े अन्य जीवों को लक्ष्य की ओर जाने में सहायता करनी चाहिए। यही बात श्रीरामकृष्ण ने निर्विकल्प समाधि में डूबे रहने के इच्छुक स्वामी विवेकानन्द से कही थी। वे चाहते थे कि स्वामीजी एक विशाल वट-वृक्ष की तरह हों जो असंख्य पीड़ित एवं संतप्त नर-नारियों को आश्रय प्रदान करें। यही भाव निम्नलिखित श्लोक में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है।

दुर्जनः सज्जनो भूयात्सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत् ॥

अर्थात् 'दुर्जन व्यक्ति सज्जन हो, सज्जन शांति प्राप्त करे। शान्त व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो, और अन्य लोगों को मुक्त करे। चित्र में अर्जुन सज्जन का प्रतीक है और श्रीकृष्ण उसे मोक्ष की ओर ले जाने वाले मुक्तक के।

श्रीकृष्ण का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "श्रीकृष्ण एक हाथ में चाबुक लिये और दूसरे हाथ से रास खींचे अर्जुन की ओर थोड़ा सा मुड़ गये हैं—उनका शिशुसरल मुख अपार्थिव-स्वर्गीय प्रेम व सहानुभूति से दीप्त हो उठा है……" (वि० सा० सं० ८, पृ० २३८ –२३९)

श्रीकृष्ण के चेहरे की पहली विशेषता है उसकी शिशुसुलभ सरलता। सामान्यत: जब व्यक्ति किशोरावस्था एवं यौवन में पदार्पण करता है, तब उसकी बाल्यकाल की सरलता समाप्त हो जाती है, लेकिन उसके स्थान पर समझ तथा प्रौढ़ता आ जाती है। अधिक उम्र में सरलता और प्रौढ़ता एक साथ केवल आध्यात्मिक पुरुषों में ही पायी जाती है। ज्ञानी एवं परमहंस 'बालवत' कहे गये हैं। श्रीकृष्ण भी ऐसे ही एक 'ज्ञानी बालक' थे, जो यादव-राजकुमार, योद्धा, सेनानायक आदि की भूमिका निभाते हुए भी सदा वृन्दावन के क्रीड़ा-प्रिय गोप-बाल ही बने रहे। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनके चेहरे और नेत्रों से राज-दरबारों या रणक्षेत्र में, अत्यन्त गंभीर परिस्थितियों के बीच भी प्रकट होती थी। रणांगन में अर्जुन के अचानक मुह्यमान हो जाने के विषम अवसर पर भी उनके चेहरे पर सुलभी हँसी खेल गयी थी, जिसका उल्लेख महाभारतकार ने 'प्रहसन्निव' से किया है।

श्रीकृष्ण के मुख की दूसरी विशेषता यह है कि वह अपार्थिव प्रेम और सहानुभूति से दीप्त है।

वस्तुतः एक बालक ही सच्ची सहानुभूति दिखा सकता है, क्योंकि उसका सरल-सहज मन 'मुँह में राम, बगल में छुरी' का पाठ सिखानेवाली संसार की कृत्रिमता से प्रभावित नहीं हुआ होता है। बालक अत्यन्त संवेदनशील होता है। यदि वह अपने किसी साथी बालक को रोता देखता है, तो वह भी रो पड़ता है, और इसके विपरीत एक रोता हुआ बालक अपने हंसते, खेलते-कूदते साथियों को देखकर शीघ्र प्रसन्न भी हो जाता है। ऐसा ही एक सुन्दर दृष्टांत माँ सारदा के जीवन में पाया जाता है। एक मजदूरनी प्रायः माँ के घर, जयरामबाटी में सामानादि लाया करती थी। एक बार बहुत दिनों तक वह नहीं दिखाई दी। उसके बाद जब वह आयी तो माँ ने उसके इतने दिन न आने का कारण पूछा। इस पर वह बुढ़िया मजदूरनी रो पड़ी और कहने लगी कि कुछ दिन पूर्व ही उसके जवान लड़के की मृत्यु हो गया था। यह सुनना भर था कि माँ सारदा भी रो पड़ीं। दोनों वृद्धाएँ, मजदूरनी एवं माँ सारदा बहुत देर तक रोती रहीं। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि माँ की इस निष्कपट, स्वाभाविक संवेदनशीलता एवं सहानुभूति से वृद्धा को कितनी सांत्वना मिली होगी। लोगों के दुःखों को अनुभव करके सच्ची सहानुभूति द्वारा उनके दुःख के भार को लघु करने की यह क्षमता श्रीरामकृष्ण में भी प्रचूर मात्रा में थी।

श्रीकृष्ण के मुख का तीसरा लक्षण है उसकी नील गगन की-सी गंभीर शांति। शांति एवं गंभीरता बालक के साथ मेल नहीं खाते। वे स्वभाव से ही चंचल होते हैं। वस्तुतः बालक के लिए शान्त बैठना अत्यन्त कठिन होता है। वे तो उन बन्दरों के समान हैं, जो ध्यान करते दिखाई देते हैं पर भीतर-ही-भीतर फलबागान पर धावा बोलने की योजना बनाते रहते हैं। दीवार की ओर मुँह करके कमरे के कोने में चुपचाप बैठे रहना बालक के लिए सबसे बड़ा दण्ड है। लेकिन ज्ञानी इससे भिन्न होता है। उसमें सागर की-सी उद्दाम लहरें भी दिखाई देती हैं, और वह सागर की तरह गहरा भी होता है। यही नहीं सागर जितना अधिक गहरा होता है, उसकी लहरें भी उतनी ही ऊँची उठती हैं। ज्ञानी में भी बाहर महान कर्मशीलता दिखाई देती है, पर भीतर गहरी शान्ति विराजती रहती है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार गीता का मुख्य सन्देश भी यही है।

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥
> (४, १८)

अर्थात कर्म करते हुए भी जिसका मन शांत है और जब कोई बाह्य चेष्टा नहीं हो रहा हो तब भी ब्रह्मचिन्तन रूपी महान कर्म की धारा सतत बह रही है— वही मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगी है, वही कर्म-कुशल है।

सागर में निरन्तर नदियाँ जल ढालतीं रहती हैं, फिर भी वह अपनी सीमाओं का उल्लंघन न कर 'अचल-प्रतिष्ठ' बना रहता है, परन्तु श्रीकृष्ण की करूणा सागरसम होते हुए भी अपने बाँध को लाँघ कर अर्जुन की ओर प्रवाहित हो रही है। ऐसा लगता है मानो उनके हृदय में आनन्द व प्रेम का सागर लबालब भरा हुआ है। रहस्य यह है कि कामनाओं एवं विषय-संवेदनाओं का प्रवाह उनमें नदियों की तरह प्रवाहित होते हुए भी उन्हें किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं कर पाता है। उनके हृदय से प्रेम व करूणा के निर्झर निकल कर सारे संतप्त जगत पर शान्ति-वारि का वर्षण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी के स्वरूप को समझने के जितने रूपक व्यवहृत हुए हैं, वे

सभी अपूर्ण ही हैं। ज्ञानी बालक के समान सरल हैं पर बालवत् चंचल नहीं। वे सागर की तरह शांत हैं पर अपनी सीमाओं से बँधे नहीं। वस्तुत: रथारूढ़ पार्थसारथी श्रीकृष्ण का चित्र एक संपूर्ण उच्चतम आध्यात्मिक जीवनादर्श का अत्यन्त सुन्दर प्रतीक है। यह अर्जुन रूपी शोकग्रस्त जीव के लिए जहाँ आशा का सन्देशवाहक है, वहीं ब्रह्म-ज्ञान के जिज्ञासु के लिए साधना का रहस्योद्घाटक एवं पथप्रदर्शक है। वह मुमुक्षु को निरन्तर प्रेरणा प्रदान करता है कि वह अपनी इन्द्रियों एवं मन को संयत और बुद्धि को शुद्ध कर भगवत् कृपा से मोक्ष रूपी लक्ष्य को प्राप्त करे और संसार के अन्य प्राणियों की मुक्ति में सहायक बने।

□

श्रीरामकृष्ण मंडली, इस्लाम और मुसलमान

—डॉ० सुकन्या झवेरी
बम्बई

अद्वैत विज्ञान में प्रतिष्ठित होने के बाद श्रीरामकृष्ण का मन बहुत ही उदार भाव संपन्न हो गया था। उसी समय दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में गोविन्द राय नाम के एक सूफी व्यक्ति आये। वे जाति के क्षत्रिय थे। लेकिन उर्दू, फारसी और अरबी भाषा के जानकार थे। उन्हें मजहबों-धर्मों के बारे में बहुत ही दिलचस्पी थी। उन्होंने इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय के बारे में जब पढ़ा तो इस्लाम के उदार मत से वे बहुत ही प्रभावित हो गये और फिर खुद मुसलमान हो गये। उन्होंने इस्लाम धर्म को अंगीकार कर लिया। वे दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ते और कुरान का पाठ करते। वे दरवेश की तरह रात-दिन खुदा को— अल्लाह की वंदगी में लगे रहते। गोविन्द राय को काली मंदिर का शान्त परिवेश बहुत ही पसंद आ गया। वहाँ हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। खाने-पीने की भी सुविधा थी और रहने की भी। सो वे वहाँ रहने लगे और अल्लाह की इबादत में मशगूल हो गये।

श्रीरामकृष्ण ने उनको देखा। उन्हें वे पसन्द आ गये। एक दिन उनसे बातचीत हुई तो देखा कि गोविन्द राय बड़े सरल, सीधे-सादे आदमी हैं। उनसे मिलकर श्रीरामकृष्ण बहुत ही प्रसन्न हुए। गोविन्द राय भक्त थे सूफी थे, सो खुदा को बहुत चाहते थे और भरोसा भी अतिशय था। श्रीरामकृष्ण ने सोचा, "इस्लाम भी ईश्वर को पाने का एक पथ ही तो है, चलो करके वो भी देख लेते हैं।"

फिर उन्होंने गोविन्द राय से इस्लाम धर्म की दीक्षा और शिक्षा ली। और इस्लाम धर्म की साधना में वे डूब गये। नमाज पढ़ना, कुरान पाठ इत्यादि में रम गये। उन दिनों वे धोती भी लुंगी की तरह पहनते थे। दिन रात अल्लाह के नाम का रटन। खाना भी मुसलमान जैसा खाते थे, और माँ काली के मन्दिर में भी नहीं जाते थे हालाँकि माँ उनको प्राण से भी प्यारी थी, और फिर उस पथ पर चल के भी उन्होंने प्रभु को पा

लिया और सिद्ध किया कि यह भी एक पथ है और इस पथ पर भी चलकर ईश्वर को पाया जाता है। जरूरी है सिर्फ व्याकुलता और प्रेम। आंतरिकता और लगन —सच्चे दिल की लगन।

श्रीरामकृष्ण स्वयं कहा करते थे, "उस समय 'अल्ला' मन्त्र जप करता, लुंगी पहनता और त्रिसंध्या नमाज पढ़ता। हिन्दू देव-देवी को प्रणाम तो नहीं, दर्शन भी करने की प्रवृत्ति होती नहीं। इसी तरह तीन दिन बीत गये तो उस मत का साधन फलसम्यक् हस्तगत हुआ था।"

इस्लाम धर्म-साधन काल में श्रीरामकृष्ण को प्रथम एक लम्बी दाढ़ी वाले विशिष्ट, सुगंभीर ज्योतिर्मय पुरुष-प्रवर के दिव्य दर्शन हुए थे। बाद में सगुण विराट ब्रह्म को उपलब्धि हुई और उनका मन तुरीय. निर्गुण ब्रह्म में लीन हो गया था।

श्रीरामकृष्ण को केवल हिन्दू धर्म ही नहीं, दुनिया के सारे धर्मों के लिए सहानुभूति थी। वे चाहते थे कि भारत के सब लोग, चाहे वो हिन्दू हों या मुसलमान या किसी भी धर्म का आदमी हो, सब एक दूसरे से मिलजुल कर— भाई-भाई की तरह प्यार मुहब्बत से रहें।

जैसे मुरशीद वैसे मुरीद। जैसे गुरु वैसे ही चेले—शिष्य। जैसे श्रीरामकृष्ण वैसे ही स्वामी विवेकानन्द थे। स्वामी विवेकानन्द उर्दू-फारसी वगैरह भाषा बहुत अच्छी तरह से जानते थे। वे हाफीज, मौलाना, रूमी इत्यादि को बहुत ही पसंद करते। शेर-शायरी, संगीत वगैरह में उन्हें बहुत ही दिलचस्पी थी। वे सूफी जैसे कि राबिया इत्यादि को भी बहुत चाहते थे।

स्वामी विवेकानन्द के पिताजी विश्वनाथ दत्त, उस जमाने के जानेमाने वकील थे। उनकी वकालत भी बहुत अच्छी चलती थी। उनके मुवक्किल (Client) सिर्फ हिन्दू ही नहीं बल्कि मुस्लिम भी थे। उन्हें भी फारसी जुबान-भाषा आती थी। विश्वनाथ खुद-स्वयं भी बड़े उदार दिल के आदमी थे।

जब स्वामी विवेकानन्द छोटे थे तब एक मुसलमान मुवक्किल उनके घर आता जाता था। वो स्वामीजी को बहुत प्यार करता और जब आता तो मिठाई वगैरह लेकर आता। नरेन्द्रनाथ उन्हें चाचा कहकर पुकारते। हिन्दू होते हुए भी बाप बेटे दोनों को मुसलमान की दी हुई मिठाई खाने में आपत्ति नहीं थी।

नरेन्द्रनाथ के दीवानखाने में हिन्दू मुस्लिम मुवक्किलों के लिए अलग-अलग हुक्के रखे थे। बालक नरेन्द्रनाथ ने पिताजी से पूछा, 'बाबा ये सब अलग-अलग हुक्के क्यों हैं?" पिताजी ने कहा, "बेटे हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग हैं, अगर मुसलमान के हुक्के से हिन्दू पीये तो उसकी जाति चली जाती है। फिर एक दिन नरेन्द्र अकेले थे तो बैठक खण्ड में गये और मुसलमान के हुक्के को कश मारने लगे। जैसे दम मारा वैसे पिताजी हाजिर हो गये, और पूछा "अरे बिले! (बिले—उनका बचपन का प्यार से पुकारने का नाम था) ये क्या कर रहे हो?" बेधड़क बिले ने जवाब दिया, "बाबा, देखता हूँ कि जाति जाती है या नहीं?" विश्वनाथ जी जोर से ठहाका देकर हँसे और दूसरे कमरे में चले गये।

नरेन्द्रनाथ को जफर की गजल—"जो कुछ है सो तू ही है" बहुत अच्छी लगती थी। स्वामी विवेकानन्द की आवाज बहुत मीठी और बड़ी सुरीली थी। वे संगीत में बड़े माहिर (जानकार) थे। उन्हें गाना बजाना सब कुछ आता था।

बड़े होने के बाद जब वे अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के पास जाने लगे तो ये बहादुरशाह जफर की गजल उनके पास भी गाते थे। श्रीरामकृष्ण भी संगीत को बहुत ही पसन्द करते और स्वयं भी बहुत ही अच्छा गाते थे। गुरु और शिष्य दोनों की आवाज बहुत मीठी थी—मास्टर महाशय ने कहा है 'देव दुर्लभ कण्ठ।'' (अर्थात् देवों को भी अप्राप्य ऐसी मीठी आवाज) से गजल श्रीरामकृष्ण को भी बहुत ही पसन्द थी वे भी फरमाइश करते "नरेन जो कुछ है" वो भजन गा।'' और सुनकर समाधि में लीन हो जाते थे।

जब यह अनुभूति हो जाय कि "सब कुछ तू ही है' तो फिर बाकी क्या रहे? श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था, 'मैंने एक बार पेड़ के नीचे ध्यान करते हुए देखा कि एक दाढ़ी वाला मुसलमान शायद वे मोहम्मद पैगम्बर थे—हाथ में एक सनहकी (एक मट्टी का बरतन जो मुसलमान लोग इस्तेमाल करते हैं) थी। उसमें खाना था। वे सबको अपने हाथ से खाना खिलाते थे और खुद भी (स्वयं भी) खाते थे। उसमें से मुझे भी खाना दिया तो मैंने भी खाया। सब तो एक हैं। एक के (अलावा)—अतिरिक्त दूसरा नहीं—जो कुछ है सो वो ही—खुदा ही हैं—खाना भी, खाने वाला भी, खिलाने वाला भी—जैसे गीता में कहा है।

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्"
(४·२४)

श्रीरामकृष्ण का पसंदीदा दृष्टांत था। तालाब तो एक है। पानी के घाट अलग-अलग। पानी एक है नाम जुदा-जुदा। एक घाट से हिन्दू पीते हैं, कहते हैं 'जल', दूसरे घाट से मुसलमान पीता है, पुकारता है 'पानी' अंग्रेज कहता है 'Water' और यूरोपियन aqua लेकिन तालाब एक और पेय एक, नाम जुदा-जुदा। ईश्वर एक उनके नाम अनेक—और जितने मत हैं उतने ही सब पथ हैं।

स्वामी विवेकानन्द संन्यास लेकर जब भारत भ्रमण को निकले, तब हिमालय की पहाड़ियों में घूमते-घूमते अलमोड़ा पहुँचे। वहाँ एक दिन भूख और प्यास के मारे बेहोश होकर गिर पड़े। उनके साथी पानी की तलाश में निकले। पास में एक कब्रिस्तान था, वहाँ एक मुसलमान फकीर रहता था। उसने (स्वामीजी को) स्वामी विवेकानन्द को बेहोश पड़े हुए देखा। तो जाकर एक ककड़ी लेकर आया। और स्वामीजी को खिलाकर उनकी जान बचायी।

फिर विश्व विजयी होकर स्वामीजी जब दुबारा अलमोड़ा गये तो वहाँ के लोगों ने स्वामीजी का सत्कार करने के लिए एक सभा का आयोजन किया था। तो सभा मण्डप में—बाहर जाते समय स्वामीजी ने सभा के बाहर एक कोने में वे उस फकीर को खड़ा हुआ देखा तो प्यार से उन्हें गले लगाया और अपने साथ मंच पर ले गये और सबसे उनको परिचय कराते हुए कहा यही है वो फकीर जिसने "जब मैं अनजान अजनबी एक युवान संन्यासी था, तब मुझे ककड़ी खिलाकर, मेरी जान बचायी थी। इनका मैं हमेशा-हमेशा के लिए ऋणी हूँ और रहूँगा।"

एक बार जब स्वामी विवेकानन्द नैनिताल गये थे तो वहाँ एक उदार-दिल मुस्लिम से भेंट हुई थी। जिसका नाम था मुहम्मद सरफराज हुसैन। स्वामीजी का प्रभावशाली व्यक्तित्व और असाधारण आध्यात्मिक शक्ति देखकर (उन्होंने) उसने कहा था, "स्वामीजी, कभी कोई परवर्ती काल में आपको रसूल या पैगम्बर—(अवतार) कहे तो याद रखना कि, मैं हूँ तो मुसलमान, फिर भी, मैं ही पहला आदमी हूँ जिसने आपको असली

रूप में जाना और पहचाना है—और पैगम्बर कहा है।" वो स्वामीजी को बहुत चाहता था। और अपने को स्वामी विवेकानन्द का शिष्य या मुरीद मानता था। और फकीरी लेकर उसने अपना नाम "मोहम्मदानन्द" रखा था।

जब मोहम्मदानन्द ने स्वामीजी को एक खत लिखा तो स्वामीजी ने जवाब में लिखा "हमें सब धर्म को प्यार से देखना चाहिए। और मैं दृढ़ता से मानता हूँ कि भाईचारा और व्यावहारिक, इस्लाम धर्म को मदद बिना (Without Practical Islam) केवल वेदांतिक सिद्धांत से काम नहीं चलेगा। भले ही वेदांतिक सिद्धांत कितना ही भव्य, तेजस्वी या सुन्दर और अद्‌भुत क्यों न हो! फिर भी वे सामान्य जनता के लिए बिल्कुल बेकार होंगे।··· अपने देश के लिए, अपनी मातृ-भूमि के लिए हिन्दू और इस्लाम धर्म—दो महान धार्मिक शाखाओं का संगम—संयोग-मिलाप ही इष्ट है।···हमें चाहिए वेदांत का दिमाग और इस्लाम का शरीर" स्वामीजी को इस्लाम का भाईचारा बहुत ही पसन्द था। ये बात उपर्युक्त पत्र पढ़कर ज्ञात होती है।

जैसे उदार दिल श्रीरामकृष्ण थे वैसी ही श्रीमाँ शारदा थीं। उनके दिल में भी हिन्दू मुस्लिम का भेद-भाव नहीं था। जयरामबाटी के पास ही शिरोमणीपुर गाँव था। वहाँ मुसलमानों की बस्ती ज्यादा थी। वे सब शहतूत की खेती करते जिसमें रेशम के कीड़े पलते हैं। वे रेशम बुनकर (जिंदगी का) जीवन निर्वाह करते। लेकिन विलायती रेशम जब से हिन्दुस्तान में आने लगा तब से देशी रेशम की माँग खतम हो गयी। जब वे ताँती-जुलाहे भूखे मरने लगे तब उन्होंने चोरी डकैती शुरू कर दी। और वे सब 'तूँते डाकू' के नाम से बदनाम हो गये। श्रीमाँ शारदा के लिए जब जय-रामबाटी में मकान बन रहा था तब संन्यसियों ने सब मुसलमानों को मकान बाँधने के काम में लगा दिया। उस समय वहाँ अकाल था इसलिए गाँव के लोग डरने लगे कि ये डाकू हमें मार डालेंगे तो! लेकिन बाद में उन सब का शांतिपूर्ण व्यवहार देखकर जी में तसल्ली—शांति हुई और गाँव के लोग कहने लगे, "वाह! श्रीमाँ की दया और आशीर्वाद से ये डाकू लोग भी अच्छे आदमी बन गये।"

माँ तो ये सभी मुसलमान ताँती डाकूओं के साथ भी बहुत प्यार भरा व्यवहार करती थीं। एकदिन एक मुसलमान ढेर सारे केले लाया और कहने लगा "माँ ये भगवान के लिए लाया हूँ आप लेंगी क्या?"

माँ ने हाथ लम्बाया और बोली, "अवश्य लूँगी, जरूर, क्यों नहीं लूँगी? दे दो बेटे! 'बेटा' के सिवा बात नहीं, और क्यों नहीं! माँ जो थीं। सब की माँ। जगत जननी! गाँव की एक औरत वहाँ—उपस्थित थी वे कहने लगी, "माँ, ये तो चोर डाकू हैं उनके दिए हुए केले क्या आप भगवान को देंगी?" माँ ने उस वक्त कुछ न कहा, केले ले लिए, और वो गरीब मुसलमान को कुरमुरे और मिठाई वगैरह बहुत सारी खाने की चीजें दी। और जब वो चला गया तो माँ बोली "देखो, मुझे सब पता है कौन अच्छा है और कौन बुरा!" माँ चाहती थीं कि बुरे भी अच्छे हो जायें। माँ हमेशा कहती थीं, "देखो बुराई तो सब आदमी में होती ही हैं, बुरे को बुरा कहने वाले तो बहुत लोग हैं लेकिन बुरे को अच्छे बनाने वाले कितने कम हैं।"

उन सब ताँती डाकू में एक अमजद नाम का डाकू भी था, जिसने माँ के घर की दीवार बनायी थी। उसको माँ ने एक दिन अपने बरामदे में खाना खाने के लिए बिठाया। माँ की भतीजी,

जिसका नाम नलिनी था। उसको छुआछूत का विचार बहुत था। तो वे घर की चौखट के पास खड़ी होकर दूर से ही खाना फेंकने लगी. ये देखकर माँ को बहुत बुरा लगा, उन्होंने कहा 'अरे ऐसे कोई खाना परोसे तो क्या आदमी को खाना खाना अच्छा लगेगा क्या? उसको खाने का दिल होगा क्या? वो खा सकेगा क्या? ठीक से परोसना है तो परोस, नहीं तो रहने दे मैं ही उसे परोस दूंगी।" जब अमजद ने खाना खा लिया तो माँ ने अपने हाथों से वे जगह परिष्कार-साफ कर दी। तो फिर से नलिनी चिल्लाने लगी, "बुआ, आपने उसकी जूठी जगह साफ की! आपकी जात गयी।" श्रीमाँ ऐसी बातें नहीं मानती थीं। उन्होंने फौरन जवाब दिया, 'चुप कर, जैसा शरत् मेरा बेटा है वैसा ही अमजद।' शरद याने स्वामी शारदानन्द, संन्यासी, रामकृष्ण मठ के जनरल सेक्रेटरी, और श्रीमाँ के सेवक! और अमजद! एक मुसलमान डकैत। फिर भी श्रीमाँ की नजर में दोनों में कोई अन्तर नहीं था। श्रीमाँ जो माँ था, सबकी माँ!!

एक दिन माँ जयरामबाटी में ही थी। बुखार की वजह से बिस्तर पर लेटी थी। सुबह का वक्त था। नौ या दस बजे होंगे। इतने में एक काला, आदमी दुबला-पतला, फटे कपड़े, सूखे बिखरे बाल, उतरा हुआ चेहरा, लकड़ी के सहारे चलता हुआ आया, वह अमजद था। दरवाजे में दाखिल होकर बरामदे में आया और कमरे की चौखट पर खड़े होकर झुककर कमरे में देखने लगा। देखा कि श्रीमाँ बिस्तर पर सोई हैं। श्रीमाँ ने भी देखा कि अमजद आया है तो प्यार से उसे बुलाया और माँ बेटे बातें करने लगे। फिर खाने का समय हुआ तो श्रीमाँ ने भगवान का प्रसाद अमजद को खाने के लिए दिया। अमजद वहाँ ही नहाया धोया और उसने प्रसाद खाया। जब शाम ढलने लगी तो वह, बाल में तेल, मुँह में पान चिबोता हुआ वापस जाने को निकला। हाथ में श्रीमाँ के दिये हुए ढेर सारे सामानों की गठरी-पोटली थी। और साथ में थी एक नारायण तेल की बोतल। माँ ने तेल इसलिए दिया था कि वह रात को अच्छी तरह से सो नहीं पाता था। जब वो वापस जाने को निकला तो मानो कोई अलग ही व्यक्ति था। अमजद भी माँ को बहुत ही प्यार करता था। लेकिन इसका मतलब ये नहीं की उसने डकैती छोड़ दी थी। फिर भी ब्राह्मण माँ और मुसलमान बेटे के बीच प्यार में बिल्कुल कमी नहीं थी।

श्रीमाँ जब बीमार थीं तो उन्हें खाना अच्छा नहीं लगता था। तो डॉक्टर ने अनान्नस खाने की सलाह दी। अब छोटे से गाँव में अनान्नस कहाँ से लाना? माँ ने अमजद को बुला कर कहा और अमजद कई गाँवों में ढूढ़ता फिरा और आखिर में कहीं से अनान्नस ढूँढ़ के लाया। ऐसा था अमजद का श्रीमाँ के लिए प्यार। अमजद भले ही चोरी करता रहा लेकिन कभी जयरामबाटी में उसने चोरी नहीं की थी।

एक बार चोरी के मामले में जेल भुगतकर वह जब छूट कर वापस आया तो देखा अपने आंगन में बहुत सारे कद्दू हुए थे, बस ढेर सारे कद्दू को टोकरी में रखकर वो तो चला जयरामबाटी! श्रीमाँ ने जब देखा कि अमजद आया है, तो पूछा, "अरे! इतने दिन कहाँ था? बहुत दिन से मुँह नहीं दिखाया?" अमजद ने कहा, "माँ, गाय चुराने के लिए जेल हुई थी, छूटा कि सीधा यहाँ आया।" श्रीमाँ ने कहा, "ओह! इसीलिए नहीं दिखाई दिया, मैंने तो सोचा क्या हुआ? अमजद क्यों नहीं आता?"

चोरी डकैती की कोई बात ही नहीं! बस, सिर्फ केवल अपने बेटे को देखने की ही माँ को

दिली तमन्ना ! चोर अमजद पर माँ के प्यार में कोई फर्क न पड़ा ! जसे कोई साधारण सी बात थी ! असल बात, असल चीज थी प्यार, सिर्फ प्यार, निःस्वार्थ प्यार—प्रेम ! श्रीमाँ तो माँ का, जगत् माता का प्रेम दिखाने के लिए, प्रेम कर के प्रेम दिखाने के लिए ही तो आयी थी। माँ को कोई शारदा देवी नाम से नहीं पुकारते। सब कहते थे—माँ-श्रीमाँ, बस !

वैसे ही दूसरे मुसलमान लोग भी माँ को प्यार करते थे। जग मशहूर सितार वादक श्री रविशंकर के गुरु उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ जो, जग विख्यात सरोद वादक अली अकबर के पिताजी थे। वे माँ को बहुत चाहते थे और जब भी समय मिलता तो श्रीमाँ को संगीत सुनाने को हाजिर हो जाते थे।

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग उत्सव के लिए स्वामी प्रेमानन्द जब ईस्वी सन् १९१५ में ढाका (पूर्वबंग) गये तो वहाँ सिर्फ हिन्दू ही नहीं, बहुत सारे मुसलमान भी उनके भक्त हो गये थे और उन्हें बहुत चाहने लगे थे। उस समय वहाँ बड़ा उत्सव हुआ था। धूमधाम से श्रीरामकृष्ण देव की पूजा की थी तो उसके लिए जब चन्दा इकट्ठा करने लगे तो हिन्दुओं ने मुसलमानों से पैसे नहीं माँगे तो मुस्लिमों को बहुत दुःख हुआ कहने लगे, "क्या स्वामी प्रेमानन्दजी सिर्फ आप के ही पीर हैं ? हमारे भी तो हैं !" पीर की तरह वे मुसलमान लोग मान सम्मान और प्यार करते थे स्वामी प्रेमानन्दजी को।

जब पूर्व बंगाल से स्वामी प्रेमानन्द बेलुड़ मठ वापस आये तो बहुत बीमार हो गये थे। हैजा हो गया था। बचने की आशा बहुत कम थी। तब पूर्व बंगाल के मुस्लिमों ने मिन्नत की थी और अच्छे होने पर सिन्नी चढ़ाई थी। और बेलुड़ तार भी किया था।

स्वामी प्रेमानन्द का प्यार भी हिन्दुओं तक सीमित नहीं था। वे भी दिलोजां से मुसलमानों को चाहते थे। संन्यासी को क्या हिन्दू क्या मुसललान ?

मुसलमानों को मानो प्यार की डोर से प्रेम मूर्ति प्रेमानन्द ने बांध ही लिए थे। पूर्व बंगाल में एक मौलवी था, उसको ये बात रुचि नहीं। मुसलमान होकर हिन्दू संन्यासी को इतना प्यार करना ? वो ईर्ष्या से जल उठा। उसने अपना एक दोस्त जो जादू-टोना करने में बड़ा उस्ताद था, उसे साथ में लेकर स्वामी प्रेमानन्द को मिलने गया। वह चाहता था, उसका दोस्त स्वामी प्रेमानन्द को जादू-टोना करके परेशान करें। लेकिन उसका दोस्त स्वामी प्रेमानन्द का बाल भी बाँका न कर सका। उसको कोई कारसाजी चली ही नहीं। तो मौलवी ने स्वामी प्रेमानन्द को सच बात बतायी और गुस्ताखी के लिए माफी चाही। स्वामी प्रेमानन्द को बात सुनने के बाद भी गुस्सा नहीं आया और ऊपर से दोनों को प्यार से मिठाई और फल खिलाये। मौलवी यह देखकर बहुत प्रभावित हो गया और बोला, "आप तो बहुत उदार दिल हैं। आप हमारे साथ एक थाली में खाना भी खायेंगे क्या ?" स्वामी प्रेमानन्द ने खाना खाया भी था।

जब स्वामी प्रेमानन्द ढाका में थे तो ढाका के नवाब सलिमुल्ला भी स्वामी प्रेमानन्द को मिलकर बहुत ही प्रभावित हो गये थे। उन्हें भी वे बहुत ही पसंद आ गये थे तो अपनी कोठी पर बुलवाये और पीर समझकर बहुत ही मान दिया था। नवाब की बेगमें भी प्रेमानन्द स्वामी को बहुत चाहती और जब-जब समय मिलता तो दर्शन करती।

एक बार बेलुड़ मठ में एक मुसलमान स्वामी

प्रेमानन्द को मिलने को आया, तो स्वामी प्रेमानन्द ने प्यार से उसे खाना खिलाया और उनकी जूठी थाली खुद उठायी और अपने हाथ से वो जगह भी साफ की।

स्वामी प्रेमानन्द का प्यार जाति बन्धन से परे था। जब मनुष्य ईश्वर को पा लेता है तो जान लेता है कि ये जाति पांति सब झूठ हैं। सच है केवल ईश्वर। मनुष्य केवल मनुष्य है—न वो हिन्दू है न मुसलमान।

उसमें सर्व धर्म समन्वय की भावना और धर्म सहिष्णुता अपने आप आ जाती है।

ये बात ईश्वर करे सबकी समझ में आ जाये तो ये दुनिया स्वर्ग बन जाय।

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम
सबको सन्मति दे भगवान।

जैसे जफर ने कहा है—

सब के मकाने-दिल का मकीं तू
कौन-सा दिल है जिसमें नहीं तू।

हर एक दिल में तू है समाया—
जो कुछ है सो तू ही है।

●

सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जीवन

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

कर्त्तव्य क्या है ?

हम ऐसे अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हैं, जिन्हें हम प्राय: कर्त्तव्य की संज्ञा देते हैं, और सामान्यत: ये कार्य केवल दु:ख और अशान्ति ही पैदा करते हैं। यदि यह सत्य है, तो कर्त्तव्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा में कहीं कोई त्रुटि है। हम "कर्म" करते हैं लेकिन सामान्यत: हम उसे योग में, एक आध्यात्मिक साधना तथा आत्मसाक्षात्कार के उपाय के रूप में परिणत करना नहीं जानते। जरा देखें, स्वामीजी ने कर्मयोग के बारे में क्या कहा है :

"कर्मयोग कहता है कि पहले तुम स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। और जब तुममें इसको रोकने की क्षमता आ जाय, तो उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की वीथियों में न जाने दो। फिर तुम संसार में जाकर यथाशक्ति कर्म कर सकते हो। फिर तुम सबसे मिल सकते हो, जहाँ चाहो, जा सकते हो, तुम्हें कुछ भी पाप स्पर्श न कर सकेगा। पानी में रहते हुए भी जिस प्रकार पद्मपत्र को पानी स्पर्श नहीं कर सकता और न उसे भिगो सकता है, उसी प्रकार तुम भी संसार में निर्मित्त भाव से रह सकोगे। इसी को 'वैराग्य' कहते हैं, इसी को कर्मयोग की नींव—अनासक्ति कहते हैं। मैंने तुम्हें बताया ही है कि अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार का योग-साधना नहीं हो सकती। अनासक्ति ही समस्त योग साधना की नींव है। हो सकता है कि जिस मनुष्य ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र पहनना छोड़ दिया है, अच्छा करना छोड़ दिया है और मरुस्थल में जाकर रहने लगा है, वह भी एक घोर विषयासक्त व्यक्ति हो।

उसकी एकमात्र संपत्ति - उसका शरीर ही उसका सर्वस्व हो जाय और वह उसी के सुख के लिए सतत् प्रयत्न करे। बाह्य शरीर के प्रति हम जो भी करते हैं, उससे अनासक्ति का सम्बन्ध नहीं है, वह तो पूर्णतया मन में होती है। "मैं और मेरे" को बाँधने वाली जंजीर तो मन में ही रहती है। यदि शरीर और इन्द्रियगोचर विषयों के साथ इस जंजीर का सम्बन्ध न रहे, तो फिर हम कहीं भी क्यों न रहें, हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हो परन्तु फिर भी बिल्कुल अनासक्त हो; और दूसरी ओर यह भी संभव है कि एक व्यक्ति चिथड़ों में हो, पर फिर भी वह बुरी तरह आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, और फिर सतत् कार्य करते रहना होगा। ......कर्मयोग समस्त आसक्ति से मुक्त होने में सहायक प्रक्रिया सिखा देता है।"[1]

तब फिर कर्त्तव्य का क्या अर्थ है? कर्त्तव्य और दायित्व, इन दो शब्दों में से दायित्व शब्द से संदर्भ विशेष तथा तात्कालिक बाध्यता का संकेत प्राप्त होता है। जैसे—एक व्यक्ति पर अपनी वृद्धा विधवा माता के भरण-पोषण का दायित्व है। इससे भिन्न कर्त्तव्य शब्द से तात्कालिक परिस्थितयों के कारण उपस्थित बाध्यता का कम, पर नैतिक और आचार विषयक प्रभाव का अधिक अर्थ ध्वनित होता है। अंग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ कर्त्तव्य को "ईश्वरीय आदेश की कठोर कन्या" की संज्ञा देते हैं। हम सभी जानते हैं कि कभी-कभी किस प्रकार हमें कर्त्तव्य व व्यक्तिगत स्वार्थ के परस्पर संघर्ष का सामना करना पड़ता है। हम चाहे कोई भी संज्ञा क्यों न दें, हम अज्ञानी जीवों के लिए कर्त्तव्य का अर्थ एक हद तक बाध्यता और बन्धन है।

(विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खंड, पृ: ७४-७५)

ज्ञानी महापुरुषों की बात भिन्न है। ईश्वरावतार श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवत् गीता में हमें कहते हैं।"

"नमे पार्थास्ति कर्त्तव्यं भिषुलोकेसु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

अर्थात् मुझे इन तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं है। न तो कोई प्राप्तव्य है और नहीं ऐसी कोई वस्तु है जो मैंने प्राप्त न की हो, फिर भी मैं वर्तता हूँ।" ईश्वरीय अवतार और महापुरुष मुक्ति में प्रतिष्ठित हो दुःखी मानव जाति के प्रति प्रेम से प्रेरित हो कर्म करते रहते हैं। दैवी पुरुष में कामनाओं का संघर्ष नहीं होगा, अतः कर्त्तव्यों का भी द्वन्द्व नहीं होगा। उनके लिए किसी कार्य को करने का एक ही मार्ग होता है, और वह है, ईश्वरीय मार्ग। अज्ञान के कारण हम कर्त्तव्य तथा उसकी पूर्ति के मार्ग के बारे में भ्रमित हो जाते हैं।

कर्त्तव्य और स्वार्थपरता

स्वामी विवेकानन्द कितने मार्मिक ढंग से हमें यह बताते हैं कि हमारी तथाकथित कर्त्तव्यबोध प्रायः एक रोग बन जाता है: कर्त्तव्य हमारे लिए एक प्रकार का रोग-सा हो जाता है; और हमें सदा उसी दिशा में खींचता है। यह हमें जकड़ लेता है और हमारे पूरे जीवन को दुःखपूर्ण कर देता है। यह मनुष्य जीवन के लिए महाविभीषिका स्वरूप है। यह कर्त्तव्य बुद्धि ग्रीष्मकाल के मध्याह्न सूर्य के समान है जो मानवता की अन्तरात्मा को दग्ध कर देती है। कर्त्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखो! उनका कर्त्तव्य उन्हें प्रार्थना या स्नान-ध्यान करने का भी अवकाश नहीं देता। कर्त्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं, कर्त्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है वे घर आते हैं और फिर अगले

दिन का काम सोचने लगते हैं; कर्त्तव्य उनपर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई। फिर एक दिन ऐसा आ जाता है, कि वे कसे-कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिर कर मर जाते हैं! कर्त्तव्य साधारणतया यही समझा जाता है। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वतंत्र व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त कर्म भगवान् को समर्पित कर देना ही असल में हमारा एकमात्र सच्चा कर्त्तव्य है।" विवेकानन्द साहित्य, तृतीय खण्ड पृ: ७६)

हम कर्त्तव्य के गुलाम बनकर अपने सारे जीवन को दुःखपूर्ण बना डालते हैं। हमारा कर्त्तव्य क्या है तथा कैसे पूरा करना है, इस विषय में हमें स्पष्टतः ज्ञान होना चाहिए। कितनी बार हम यह पाते हैं कि अपनी स्वयं की समस्याओं को सुलझाना सीखने के पहले ही प्रेम से प्रेरित नहीं, बल्कि आत्म तुष्टि के लिए हम दूसरों की सहायता करने लगते हैं। दूसरों की सेवा करने में तत्पर निःस्वार्थ व्यक्ति अवश्य है, लेकिन इस विचित्र संसार में, जिसे हमारे एक वरिष्ठ स्वामीजी ने "भगवान् के विराट पागलखाने" की संज्ञा दी है, बहुत से ऐसे शरारती व्यक्ति हैं जो जीवन में असफलता और हताशा के शिकार हैं अथवा जो निकट के सामान्य कार्यों को करना नहीं चाहते। ऐसे लोग अपने अहंकार की तुष्टि के लिए दूसरों पर अपने को जबरदस्ती थोपते हैं। अहं केन्द्रित व्यक्ति कहते हैं, "उन्हें मेरी प्रेम से प्रेरित सेवा की आवश्यकता है।" हम मानव इतने स्वार्थी हैं कि हम यह कल्पना ही नहीं कर पाते कि हम जितना दूसरों को नहीं चाहते, उतना ही दूसरे भी हमें नहीं चाहते होंगे। एक मनोविज्ञ ने जब यह बात कुछ लड़कियों को कही तो यह सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि स्वयं के प्रति प्रेम के कारण इस विचार को स्वीकार करना कि कोई हमें हृदय से नहीं चाहता, बहुत कठिन है।

एक और प्रकार के अहं केन्द्रित व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को सुखी करने के लिए आवश्यकता से अधिक चिन्तित होते हैं और जिन्हें ध्यान और प्रार्थना के लिए समय नहीं मिलता। वे क्लबों, संगठनों, ब्रिज-पार्टी, भोज-समारोह अथवा राजनैतिक समितियों में सम्मिलित होकर जगत का उद्धार करने के लिए व्यग्र रहते हैं। इनसे उन्हें कुछ समय के लिए आत्म-सम्मान प्राप्त होता है, लेकिन जब नवीनत्व क्षीण हो जाता है, अथवा जब कार्य बकवाद व गपशप कुछ शान्त हो जाती है तो वे तत्काल दुखी और असन्तुष्ट हो जाते हैं। मृदु शब्दों का प्रयोग किये बिना स्वामी विवेकानन्द कहते हैं: "दासत्व को कर्त्तव्य कर देना, अथवा मांस के प्रति मांस की घृणित आसक्ति को कर्त्तव्य कह देना कितना सरल है! मनुष्य संसार में धन अथवा अन्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए एड़ो-चोटी का पसीना एक करना रहता है। यदि उससे पूछो, "ऐसा क्यों कर रहे हो?" तो झट उत्तर देता है, "वह मेरा कर्त्तव्य है।" पर वह धन और लाभ के लिए निरर्थक लोभ मात्र है, लोग उसे कुछ फूलों से ढके रखने की चेष्टा करते हैं।"

(विवेकानन्द साहित्य तृतीय खण्ड, १९६३,—पृ०, ७७)

स्वार्थपरता को फूलों से ढकने से हम अनासक्त भाव से सच्चा कर्त्तव्य पालन कर उसे आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न अंग नहीं बना सकते। अहं केन्द्रित कर्त्तव्य हमारे लिए कई समस्याएँ और नये बन्धनों का निर्माण कर सकता है।

अहंकार के विभिन्न रूप—

मानव विभिन्न भावों के विचित्र समूह हैं। विलियम जेम्स के अनुसार अधिकांश लोगों के उतने ही सामाजिक व्यक्तित्व होते हैं जितने विभिन्न जन-समूहों की राय का वे समादर करते हैं। हमारे दो ही नहीं, अनेक व्यक्तित्व होते हैं। व्यवसाय में हमारा एक रूप होता है, दूसरा गिरजे में, और तीसरा घर में। अपने व्यक्तिगत जीवन में हम जो कार्य सहर्ष करते हैं, उसे हम समाज में करने में हिचकिचाते हैं। हमारे विभिन्न व्यक्तित्व कई बार एक दूसरे से मेल नहीं खाते, और इसलिए हमारे लिए अनन्त अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करते हैं। एक दुकानदार की कथा है जो अपने परिवार के साथ धार्मिक-पुनर्जागरण की सभा में सम्मिलित होने तथा धर्म-परिवर्त्तन करने के समय के पूर्व तक, सदा रविवार के दिन भी दुकान खुली रखता था। उसके बाद के रविवार को जब पड़ोसी के बच्चे ने दूध के लिए दरवाजा खटखटाया तो दुकानदार की छोटी लड़की ने ऊपर की खिड़की से झाँका और कहा, "तुम जानते नहीं, हम सभी पिछले सप्ताह से ईसाई हो गये हैं? अब अगर तुम्हें रविवार के दिन दूध खरीदना हो तो तुम्हें पीछे के दरवाजे से आना होगा।"

इस तरह अपने को धोखा केवल सामान्य लोग ही नहीं देते। उच्च पदस्थ लोग भी अधिकांशतया दोहरा जीवन जीते हैं। सम्राट के मतदान में विशेष अधिकार प्राप्त जर्मनी के कोलोंग नगर के एक राजकुमार, जो मुख्य ईसाई धर्माध्यक्ष भी था, के विषय में एक कथा कही जाती है। एक दिन उसने एक किसान के सामने अधार्मिक शब्दों का प्रयोग किया जिसे सुनकर किसान अपने आश्चर्य का संवरण नहीं कर सका। स्वयं को सही सिद्ध करने के प्रयत्न में उसने कहा? "भले आदमी, मैंने अपशब्द धर्मगुरु के रूप में नहीं बल्कि एक राजकुमार के रूप में कहे थे। इस पर बुद्धिमान किसान ने उत्तर दिया, लेकिन श्रीमान् जब राजकुमार नर्क में जायेगा, तब धर्माध्यक्ष का क्या होगा?"

हम सभी को याद रखना चाहिए कि यदि हम निजी जीवन और सामाजिक जीवन को पृथक् करें और उसके लिए विपरीत नीति-नियमों को अपनायें तो हमें अशान्ति और दुहरे बन्धन के रूप में बहुत बड़ा जुर्माना देने के लिए बाध्य होना होगा। सचमुच, हम अपने जीवन में एक नर्क का निर्माण करते हैं तथा अशुभ परिणामों की एक शृंखला प्रारम्भ करते हैं।

वास्तविक कर्त्तव्य को तरह झूठे कर्त्तव्य भी होते हैं। जीवन में यह निश्चित करना, कि कौन कार्य ठीक है और कौन-सा ठीक नहीं है, हमेशा आसान नहीं होता। शान्ति के समय किसी का हल्ला करना कानून की दृष्टि से बुरा है, लेकिन युद्ध-काल में अधिक से-अधिक शत्रुओं को मारना सभी का, विशेषकर सेना में भर्त्ती होने पर, कर्त्तव्य हो जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार गौ हत्या पाप है, क्योंकि उसे माता का स्थान प्रदान किया गया है; लेकिन एक मुसलमान के लिए विशेष त्योहारों के अवसर पर गाय को काटना पुण्य कर्म है। और भी एक ओर जहाँ हिन्दुओं ने अहिंसा, अथवा किसी को कष्ट न पहुँचाने का, एक कर्त्तव्य के रूप में सदा आचरण किया, वहीं, काफिरों की हत्या मुसलमानों में प्रसंशनीय मानी जाती थी और मध्य युग में ईसाई न्यायाधिकारी ईसाई धर्म संघ की रक्षा के लिए विधर्मियों को खूँटे में बांधकर जला देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस तरह कई प्रकार के परस्पर विरोधी कर्त्तव्य हैं। जैसा कि स्वामी

विवेकानन्द कहते हैं, 'कर्त्तव्य की कोई वस्तु-निष्ठ परिभाषा कर सकना नितान्त असंभव है। किन्तु कर्त्तव्य का एक आत्मनिष्ट पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्त्तव्य है; परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं वह अशुभ है और वह हमारा कर्त्तव्य नहीं है।'
(वि० सा० तृतीय खण्ड, ३९)

महान् हिन्दू दार्शनिक रामानुज के अनुसार जिससे आत्मा का विस्तार हो वह शुभ है और जिससे आत्मा संकुचित हो, वह अशुभ है।

●

हिमालय में स्वामी विवेकानन्द—(२)

थामसन हाउस, अल्मोड़ा में स्वामी विवेकानन्द

—मोहन सिंह मनराल
—सुरईखेत, अल्मोड़ा (उ० प्र०)

उत्तराखण्ड हिमालय की अपनी महत्त्वपूर्ण यात्राओं में स्वामी विवेकान्द की सन् १८९८ के ग्रीष्मकाल की अल्मोड़ा यात्रा अनेक दृष्टि से भावी दिशाबोध की सूचक कही जा सकती है। अपनी प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर आरुढ़ देश भर में जन-जागरण की आँधी उठाये स्वामीजो अपने भग्न स्वास्थ्य में सुधार हेतु फिर एक बार हिमालय के शरणापन्न हुए थे। पर वे तीव्र कर्म-शीलता को किंचित भी स्वयं से दूर नहीं रख सके थे क्योंकि, यह उनके लिए सहज व स्वाभाविक अवस्था थी। कहना तो यह होगा कि वे इस परम शान्ति व निस्तब्धता के मध्य तीव्र कर्मशीलता को धारण करनेवाले आदर्श पुरुष थे। यह सत्य उनके इस प्रवास काल में और अधिक उजागर हो जाता है। वैसे इस समय वे संगठन व प्रशिक्षण की उदम्य चेष्टा में लगे हुए थे अतः, यह प्रवास इसी उद्देश्य को समर्पित कहा जा सकता है।

इस प्रवास के लिए स्वामोजी अपने गुरुभाइयों, शिष्यों व पश्चिमी देशों से आयी शिष्याओं के साथ ११ मई, १८९८ को हावड़ा (कलकत्ता) से चले और १३ मई को काठगोदाम पहुँचे। उनके साथ गुरुभाई तुरियानन्द, निरंजनानन्द, शिष्य सदानन्द व स्वरुपानन्द तथा श्रीमती बुल, कु० मैक्लिउड, कु० जोसोफीन और भगिनी निवेदिता थीं। नैनीलाल में उनका स्वागत खेतड़ी के महा-राजा अजीत सिंह ने किया और वे अति अल्प प्रवास के बाद १६ मई को अल्मोड़ा के लिए चल पड़े जहाँ उनके अंग्रेज शिष्य दम्पत्ति श्री एवं श्रीमती सेव्हियर उनके हिमालय मठ के निर्माण के उद्देश्य के लिए पहले से ही विद्यमान व प्रतीक्षारत थे। इस उद्देश्य व प्रवास हेतु स्वामीजी ने लन्दन से २१ नवम्बर, १८९७ को एक पत्र में अल्मोड़ा के लाला बद्रीशाह को लिखा था—"प्रिय लालाजी...कुछ दिन समतल क्षेत्र में रहकर मेरी अल्मोड़ा जाने की इच्छा है। मेरे साथ मेरे तीन अंग्रेज मित्र हैं। उनमें दो सेव्हियर दम्पत्ति अल्मोड़ा में निवास करेंगे।......मेरी ओर से हिमालय में वे एक आश्रम बनवायेंगे।...इस

समय आप मेरे मित्रों के रहने के लिए किराये पर एक मकान की व्यवस्था करने की कृपा करें।'

थामसन हाउस अल्मोड़ा :—

स्वामीजी के इस अनुरोध को अल्मोड़ा के उनके भक्त व धार्मिक पुरुष श्री बद्रीशाह द्वारा स्वीकर किया गया और उन्होंने अपने पिता श्री हरिशाह द्वारा खरीदे गये दो भवन स्वामीजी के प्रवास हेतु उपलब्ध करवाये। इनमें प्रमुख था थामसन हाउस, जो अल्मोड़ा के पश्चिमी छोर पर स्थित एक सुन्दर आवास था, जिसे स्वामीजी के निवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दूसरा था अन्ठा हाउस (जिसे १९३६ के बाद ओकले हाउस कहा जाने लगा) जहाँ स्वामीजी की पश्चिमी देशों की शिष्याओं ने निवास किया था। यह थामसन हाउस से कुछ दूरी पर स्थित था। स्वामीजी ने इस भवन में लगभग २३ दिन निवास किया था, पर बीच में वे कुछ दिनों के लिए साधना आदि के उद्देश्यों से अन्यत्र भी गये थे। स्वामीजी का यह प्रवास उनके १८९५ में सहस्त्रद्वीपोद्यान (अमेरिका) में लगभग १२ शिष्यों के साथ व्यतीत प्रवास की यादें ताजा करता है, जहाँ वे प्राचीन ऋषि की तरह निवास कर चुके थे और उनके श्रीमुख से निःसृत देववाणी ने आत्मज्ञान को गंगा प्रवाहित कर डाली थी। इस बार हिमालय की सुरम्य पर्वत श्रृंखलाओं के आंचल में छिपे तीर्थयात्रियों के आगमन स्थल अल्मोड़ा को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था और इस बार भी उनका लक्ष्य वही था—श्रीगुरुदेव के कार्य हेतु कर्मी व दृढ़ चरित्र मनुष्य का निर्माण। इस उद्देश्य के लिए उनके साथ उनकी पश्चिमी देशों से आयो शिष्यायें थीं जो भारत की सेवा में अपने जीवन को समर्पित कर चुकीं थी। स्वामीजी उनके पथ प्रदर्शक थे, गुरु थे; इसलिए उनका पूरा उत्तरदायित्व लेकर वे उन्हें तरह-तरह से प्रशिक्षित करने को प्रस्तुत हुए थे। इन शिष्याओं में भगिनी निवेदिता प्रमुख थी। जिसे वे अपनी उत्तराधिकारिणी व मानस पुत्री के रूप में देखते थे। उन्हीं की स्मृतियों से इस प्रशिक्षण का हस्तलिखित संस्मरण सामने आया जो बाद में 'स्वामीजी से संग यात्रा संस्मरण' के रूप में छपा। उसी संस्मरण का कुछ अंश यहाँ देना अप्रसांगिक नहीं होगा।

भगिनी निवेदिता का संस्मरण :—

स्वामीजी रोज नाश्ते के बाद ओकले हाउस आते और अपनी शिष्याओं से विविध विषयों पर रोचक व लम्बी बातें करते। उनका उद्देश्य होता उन्हें भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म, दर्शन, रीति-रिवाजों और भारतीय मन से परिचित करना तथा पश्चिमी संस्कारों का उन्मूलन ताकि वे ठीक तरह पूरा-पूरा समर्पण कर सकें। निवेदिता अपने संस्मरणों में लिखती हैं प्रथम दिन प्रातःकाल की चर्चा का विषय था—सभ्यता का मूल आदर्श व एक अन्य दिन जाति भेद। एक दूसरे अवसर पर ताजमहल का वर्णन करते हुए वे बोले 'क्षीण आलोक, फिर और भी क्षीण आलोक—और वहाँ पर है एक समाधि।' शाहजहाँ के बारे में उन्होंने कहा—'अहा! वे ही अपने वंश के गौरव थे। उनका सौन्दर्यानुराग तथा सौन्दर्यबोध इतिहास में अनुपम है, और वे स्वयं भी एक कलाकार थे।'

एक दिन शिवाजी का प्रसंग उठाकर स्वामीजी बोले—'आजतक भारत के शासक वर्ग संन्यासी से भय पाते हैं कि कहीं उनके गैरिक वस्त्र के अन्दर एक और शिवाजी न छिपे हों।' इसी तरह बुद्ध के बारे में अत्यन्त दिव्य भाव में वे बोल पड़े -'मैं बुद्ध के दासों के दासों का भी दास हूँ। उनके जैसा दूसरा कौन हुआ है? साक्षात् ईश्वर···कभी उन्होंने अपने लिए कोई कार्य नहीं किया। और उनका हृदय! जिसने सम्पूर्ण जगत्

को अपने में समेट लिया था। उनमें इतनी करुणा थी कि राजपुत्र तथा संन्यासी होकर भी वे एक बकरी के बच्चे को बचाने के लिए अपना प्राण देने को प्रस्तुत हो गये थे।" यह कहकर उन्होंने यह रहस्योद्घाटन भी किया कि उन्हें बचपन में बुद्ध के दर्शन हुए थे।

एक दिन प्रातःकाल जब उद्यान से उषा के आलोक से आलोकित हिमराशि दृष्टिगोचर हो रही थी, स्वामीजी आये और हिमालय के उत्तुंग शिखरों की ओर संकेत करते हुए बोले –"वे जो उपर शुभ्र हिमाच्छादित शिखर देख रहे हो, वे हो शिव हैं और उसपर जो आलोक पड़ रहा है वे ही जगदम्बा (Mother of the world) हैं।" ऐसा प्रतीत होता है वे ईश्वर को ही सर्वत्र विस्तीर्ण देख रहे थे।

पं० विद्यासागर के बारे में स्वामीजी ने कहा—मेरे इस युग का एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो उत्तर भारत में रहता हो और विद्यासागर के प्रभाव से वंचित हो। उनके लिए यह बात बहुत आनन्द प्रदान करने वाली थी कि ये महापुरुष व श्रीरामकृष्ण कुछ ही मील की दूरी पर बंगाल में जन्मे थे। वे विद्यासागर को हमारे सामने विधवा पुनर्विवाह के प्रचारक व बहुविवाह के निवारक नायक के रूप में प्रदर्शित करते थे। श्रीकृष्ण के बारे में उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण के बारे में तो अलग ही तस्वीर उभरती है। श्रीकृष्ण एक कवि, एक ग्वाले, एक महान शासक, एक महान योद्धा और एक महान सन्त के रूप में हमारे सामने आते हैं; जिनके एक हाथ में गीता जैसी महान कृति है। मगर आज के लिए वे पूर्ण अवतार के रूप में थे। स्मरण रहे कि स्वामीजी के गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने विद्यासागर के बारे कहा था—'तुम तो अविद्या के सागर नहीं, विद्या के सागर हो। तुम क्षीर समुद्र हो।' और श्रीकृष्ण के बारे में उन्होंने कहा था - 'श्रीकृष्ण सोलह आने बजते हैं।'

इस प्रकार का शिक्षण लगातार चल रहा था मगर निवेदिता अपने अन्तर्मन में उलझनों से जूझ रही थी। उसके रास्ते में जन्म व पालन-पोषण से उत्पन्न स्वाभिमान जनित संस्कार और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिष्ठा की भावना समग्र समर्पण में बाधक बन रही थी। दूसरी ओर स्वामीजी सत्य को उसके मूल रूप में प्रकट करने वाले दृढ़ व्यक्तित्व थे, उन्होंने निवेदिता की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति के ऊपर हताशा प्रकट करते हुए कह दिया था –"वस्तुतः जैसा तुम्हारा स्वदेश प्रेम है, वह तो पाप है। मैं चाहता हूँ तुम इतनी सी बात समझो कि अधिकांश लोग स्वार्थ की प्रेरणा से कार्य करते हैं और तुम निरन्तर इसका प्रतिरोध करते हुए कहती हो कि एक राष्ट्र विशेष के सभी लोग देवता तुल्य हैं। अज्ञान के प्रति ऐसी दृढ़ता तो दुर्बलता का लक्षण है।" इन सारे आघात-प्रतिघातों से निवेदिता का अन्तर्द्वन्द्व पीड़ा-जनक बन गया। उसके लिए यह उसके बचपन के स्कूली जीवन को पुनरावृत्ति सी लगने लगी; जब अनिच्छा से स्कूल जाना व आँख मूंदकर शिक्षक की बातों को स्वीकारना पड़ता है। इस असह्य स्थिति का अंदाजा स्वामीजी को कु० मेकलाउड से ज्ञात हुआ जिसे उन्होंने सुना और बिना टिप्पणी किये उठकर चले गये। मगर उन्होंने समझा कि यह किसी दृढ़ व्यक्तित्व को तोड़कर गढ़ने की चुनौती है, जैसा स्वयं उनके गुरुदेव ने उनके प्रति प्रदर्शित किया था। उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपने गुरुदेव की उस भविष्यवाणी को सही सिद्ध कर दिया कि 'एक दिन ऐसा आयेगा जब नरेन्द्र दूसरों में ज्ञान का संचार कर देगा।'

निवेदिता को महान आशीर्वाद :—

ओकले हाउस के बरामदे में बैठी शिष्याओं

ने स्वामीजी के श्रीमुख से सुना 'इस स्थिति को बदलना ही पड़ेगा। मैं कुछ देर एकान्तवास के लिए जा रहा हूँ, जब यहाँ से लौटूँगा तो अपने साथ शान्ति लेता आऊँगा।" क्षणभर आकाश में उदित क्षीणचन्द्र रेखा की ओर निहारते देवदार के नीचे खड़ी निवेदिता से वे बोले—'मुसलमान लोग नवीन चन्द्रमा का बड़ा आदर करते हैं, आओ हम भी आज नवीन चन्द्रमा के साथ नव-जीवन का आरम्भ करें।' निवेदिता अभ्यर्थना की मुद्रा में घुटनों के बल बैठी देखती है कि स्वामीजी के मंगल हस्त ने ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद के रूप में उसके मस्तक को स्पर्श किया। इस क्षणिक दिव्य स्पर्श ने उसके हृदय में महान परिवर्त्तन ला दिया। उसने पाया कि जो जन्मजात व जातिगत संस्कार उसके समर्पण की राह में काँटे बने थे वे दूर हो गये। रिक्त स्थान भर दिया गया और एक आवरण हट गया। इसका जिक्र करते हुए उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा—"उन्होंने (स्वाजी ने) अपनी पुत्री को महान आशीर्वाद प्रदान किया। उसने केवल यह जाना कि उसके प्राचीन सारे सम्बन्ध टूट चुके हैं और वह जो एक नये और गहन जीवन के सपने संजोये थी वह प्राप्त हो गया। वह समय अद्भुत था और मधुर रूप से व्यतीत हो रहा था।"

इस प्रकार एक महान आध्यात्मिक घटना घटित हुई और श्रीरामकृष्ण देव की भविष्य वाणी अल्मोड़ा में सही हो गयी। नरेन्द्रनाथ ने स्वामी विवेकानन्द के रूप में अपनी मानस पुत्री के ज्ञानचक्षु खोल दिये। ऐसी ही एक अन्य इच्छा जो श्रीरामकृष्ण देव ने १३ वर्ष पूर्व १८८५ में दक्षिणेश्वर में प्रकट की थी वह भी अल्मोड़ा में ही पूरी हुई थी। वह थी प्रसिद्ध देशभक्त श्री अश्विनी कुमार दत्त से स्वामीजी के वार्तालाप का होना। २३ मई, सन् १८८५ में अश्विनी बाबू जब श्रीरामकृष्ण देव के दर्शनार्थ दक्षिणेश्वर गये थे तो उन्होंने अपने प्रिय नरेन का जिक्र किया और फिर रामबाबू के घर पर उनसे वार्तालाप के लिए कहा मगर तब स्वामीजी (नरेन्द्रनाथ) ने सर में दर्द होने से ठाकुर की इच्छा पूरी न होने दी। १२ वर्ष बीत जाने पर सन् १८९८ के इस अल्मोड़ा प्रवास में ठाकुरजी की वह इच्छा किस प्रकार पूरी हुई इसका जिक्र यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

मुलाकातें व वार्तालाप :—

'अश्विनी कुमार दत्त (१८५६-१९२३)' :--

अश्विनी बाबू बंगाल के बारीसाल जिले में जन्मे मातृभूमि को समर्पित एक प्रसिद्ध स्वाधीनता सेनानी और रचनात्मक कार्यकर्त्ता थे। उनके बारे में सन् १९१७ में देशबन्धु चितरंजन दास को इस टिप्पणी से बहुत कुछ स्वयं समक्ष में आ जाता है—'यहीं (बंगाल के बारीसाल जिले) पर हमारे गुरु एवं मित्र अश्विनी कुमार ने धर्म के साथ राष्ट्र सेवा का भाव जगाने के लिए जीवन-यापन किया था। अत: यह स्थान मेरे लिए तीर्थ के समान है। स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों में जिसका सूत्रपात हुआ उसका क्रियान्वयन अश्विनी कुमार के प्रयासों से हुआ।'

सन् १८९८ के ग्रीष्मकाल में अश्विनी बाबू अल्मोड़ा में निवास कर रहे थे। उन्होंने अपने रसोइये के मुख से अंग्रेजी में सम्भाषण करनेवाले, घुड़सवारी करनेवाले बंगाली साधु के बारे में सुना। इससे पूर्वसमाचारपत्रों से भी वे स्वामी विवेकानन्द के अल्मोड़ा आगमन के बारे पढ़ चुके थे। उन्हें यह निश्चय करने में देर न लगी कि वे साधु विवेकानन्द ही हैं। उनसे सम्भाषण की इच्छा लेकर जब अश्विनी बाबू थामसन हाउस पहुँचे तो उन्होंने स्वामीजी को घोड़े पर आते देखा और देखा कि एक अधेड़ उम्र व्यक्ति जो अंग्रेज

था। घोड़े को संभाला और स्वामीजी भीतर चले गये।

पूछताछ के दौरान जब उन्होंने 'नरेन दत्त' से मिलने की बात कही तो एक युवा संन्यासी द्वारा उन्हें बताया गया कि वहाँ नरेन्द्र दत्त नामक कोई सज्जन नहीं रहते हैं, वरन् वहाँ तो स्वामी विवेकानंद निवास कर रहे हैं। इस पर अश्विनी बाबू ने फिर कहा कि वे स्वामी विवेकानन्द से नहीं अपितु परमहंसदेव के नरेन से मिलना चाहते हैं। इस वार्तालाप को भनक स्वामीजी को पड़ गयी और शिष्य से सबकुछ सुनकर वे बोले—'उन्हें तुरंत भीतर लाओ।' भीतर पहुँचकर अश्विनी बाबू ने देखा कि अंग्रेज भक्त स्वामीजी की सेवा में लगे हैं तो उनकी छाती गर्व से फूल उठी। जब इस गौरव से अभिभूत हो उन्होंने कुछ क्षण पूर्व की बातों का विस्मरण कर ठाकुर के नरेन को 'स्वामीजी' कहकर सम्बोधित किया तो स्वामीजी ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "यह क्या है? मैं तुम्हारे लिए स्वामी कब से हो गया। मैं अब भी वही नरेन हूँ। ठाकुर मुझे जिस नाम से पुकारते थे वही मेरे लिए अमूल्य धन है। मुझे उसी नाम से पुकारिये।"

इसके उपरान्त ठाकुर की इच्छा के अनुरूप दोनों के मध्य विभिन्न विषयों पर वार्तालाप हुआ जिसका कुछ अंश यहाँ देना आवश्यक जान पड़ता है। अश्विनी बाबू ने भारत की मुक्ति का युक्ति जाननी चाही तो स्वामीजी ने कहा—'आपने ठाकुर से जो कुछ सुना है उसके अतिरिक्त मेरे पास कहने को और कुछ नहीं है। धर्म ही हमारा सार-सर्वस्व है और सभी तरह के सुधारों को जनसाधारण में ग्राह्य करने के लिए, धर्म के माध्यम से ही आना होगा।" इस पर अश्विनी बाबू ने जानना चाहा कि धर्म से उनका आशय क्या किसी विशेष मतवाद से है? तो स्वामीजी ने बहुत सुन्दर बात कही - "ठाकुर ने वेदांत को ही सर्वांगीण व समन्वयपूर्ण धर्म बतलाया है। अतः मैं भी उसी का प्रचार करता हूँ। पर मेरी दृष्टि में धर्म का सार है—बल। ऐसा धर्म जो हृदय में बल का संचार नहीं करता वह चाहे उपनिषद का हो, गीता का हो या भागवत का मैं उसे धर्म मानता ही नहीं। शक्ति ही धर्म है और शक्ति से बढ़कर और कुछ नहीं है।"

कांग्रेस के बारे में पूछे जाने पर स्वामीजी ने कहा—"सर्वप्रथम साधारण जनता को जगाना होगा। उन्हें भरपेट भोजन दो, फिर वे अपनी मुक्ति के लिए काम करेंगे। यदि कांग्रेस इसके लिए कुछ करता है तो उसके साथ मैं सहानुभूति रखता हूँ। अंग्रेजों के गुणों को भी अपने में मिलाते चलना चाहिए।' स्मरण रहे कि स्वामीजी ने मनुष्य तैयार करने की कार्य प्रणाली पर विशेष बल देने को कहा है जो उनकी दृष्टि में आजादी प्राप्त करने से भी महत्त्वपूर्ण था। एक अन्य अवसर पर वे बोले थे—आजादी तो मैं कल ला दूंगा पर उसे सम्भालेगा कौन? मनुष्य कहाँ है? आज जबकि आजादी प्राप्त हो चुकी है उनके विचारों की प्रासंगिकता सर्वत्र दिखाई पड़ रही है। आजादी तो प्राप्त हुई मगर वह इतनी अधूरी क्या प्रतीत हो रही है? क्या इसके मूल में मनुष्य निर्माण की वह बात उपेक्षित नहीं हुई है जिसे स्वामीजी ने इस वार्तालाप में कहा था।

मगर अश्विनी बाबू ने अपने जीवन का ध्येय स्थिर कर लिया और दीर्घ १७ वर्षों तक, वे बारीसाल में अध्यापन तथा जन-जागरण का कार्य करते रहे। उन्होंने इसी वार्तालाप में स्वामीजी से अपने जीवन के लिए दिशानिर्देशन माँगा था तो स्वामीजी बोले—"सुना है आप कुछ शिक्षणिक कार्य में लगे हैं। वही सच्चा कार्य है...परंतु ध्यान रखिये कि जनसाधारण में मनुष्य निर्माण करने

वाली शिक्षा का ही प्रसार हो। उसके बाद चाहिए चरित्र निर्माण। अपने छात्रों का चरित्र वज्र के समाने दृढ़ बना डालिये। बंगाली युवकों की अस्थियों से ही– वह वज्र तैयार होगा जो भारतीय दासता की बेड़ियां को चूरकर डालेगा।"

वार्तालाप का यह सिलसिला जलपान के समय ने तोड़ दिया और विदा लेने से पूर्व अश्विनी बाबू ने स्वामीजी से एक व्यक्तिगत प्रश्न किया—'जब मद्रास के ब्राह्मणों ने आपको शूद्र तथा वेदान्त प्रचार के लिए अनाधिकारी बताया था तो क्या आपने उन्हें भी शूद्रो का भी शूद्र कहा था? स्वामीजी की स्वीकारोक्ति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए अश्विनी बाबू ने कहा तो क्या आप जैसे धर्माचार्य के लिए यह असंयम उचित था? इस पर स्वामीजी ने तत्क्षण कहा—"कौन कहता है? मैंने तो कभी नहीं कहा कि मैंने उचित किया है। उनकी उद्धतता के कारण मैं भी अपना आपा खो बैठा और वे शब्द निकल पड़े। पर मैंने कभी इसे उचित नहीं कहा।" स्वामीजी की वाणी में इस स्पष्टोक्ति, विनम्रता व सत्यनिष्ठा को देख अश्विनी बाबू इतने रोमांचित हो उठे कि उन्हें बाहों में लेकर भावविभोर हो बोल पड़े - आज आप मेरी दृष्टि में सर्वोच्च हो गये हैं। अब मैं समझ गया कि आप क्यों जगज्जयी हैं और ठाकुर तुम्हें सबसे अधिक प्यार क्यों करते थे।"

स्वामीजी से इस प्रवास में अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने दिशानिर्देश लिया होगा यह सहज ही समझा जा सकता है।–श्रीमती एनीबेसेंट को दो बार मुलाकात हुई थी इसके अलावा मराठी के सुप्रसिद्ध लेखक भार्गव राम विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर (१८८३ से १९६४) ने भी स्वामीजी से कृपा लाभ पाया था।

'मामा वरेरकर :—

मामावरेरकर जो एक सुप्रसिद्ध लेखक, नाट्यकार, अनुवादक व आकाशवाणी से आजीवन जुड़े व्यक्तित्व थे, जो स्वामी विवेकानन्द से उनके अल्मोड़ा प्रवास के दौरान संन्यासी होने की इच्छा व्यक्त की थी। वे स्वामीजी के संग ही थामसन हाउस में कुछ दिन रहे थे। उनका विवाह हो चुका था और वे डाक विभाग में कार्यरत थे। स्वामीजी ने उनसे इसी भवन के प्राङ्गण में कहा था—"तेरे भाग्य में संन्यासी होना ही बदा है। अपनी जवानी में तुझे संन्यासावस्था प्राप्त होगी। तेरे हाथों से महान कार्य होना है यह मैं साफ देख रहा हूँ। अब तू अपने घर जा, नौकरी कर, पर नौकरी तेरे लिए नहीं है। तू मुक्त है, स्वतंत्र हैं।"

इसके बाद स्वामीजी ने मामा वरेरकर को बेलुड़ मठ आने को कहा था। वे १९०१ में उस दिन बेलुड़ पहुँचे थे जिस समय स्वामीजी संथाल श्रमिको को भोजन करा रहे थे। यही उनका संन्यास था। बाद मे स्वामीजी ने उन्हें गिरीशचन्द्र घोष के हाथों में सौंपते हुए कहा था -"मैं इसे तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ। इसे अपना वारिस बनाओ।" नाट्यसम्राट् गिरीश के वारिस के रूप में मामा वरेरकर महान लेखक व नाटककार हुए। उन्होंने स्वामीजी के विचारों को आधारित करके अपना प्रसिद्ध नाटक 'सन्यासी का संसार' की रचना की जिसे १९१९ में लोकमान्य तिलक के सामने बम्बई में मंचन किया गया और दरिद्रनायण की सेवा ही संन्यास का आदर्श चित्रित किया गया।

१९६३ ई० में आकाशवाणी से अपने संस्मरण देते हुए उन्होंने स्वामीजी के इस प्रवास के बारे में जो कुछ कहा वह विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। विवेक ज्योति, रायपुर १९६८,

अंक २ में प्रकाशित विवरण का संक्षेप यहाँ दिया जाता है "अल्मोड़ा आश्रम (थामसन हाउस, १८९८) में संन्यासियों के मेले में मैं आराम से जीवन बिताने लगा। स्वामीजी तुरियानन्द, निरंजनानन्द, सदानन्द स्वरूपानन्द जैसे महानुभावों के साथ चार विदेशी महिलायें भी आश्रम में रहती थीं। खेतड़ी के राजा साहब स्वामीजी के दर्शन के लिए पहले से आ चुके थे। विदेशी शिष्याओं को स्वामीजी हमारे इतिहास की पुण्यकथायें सुनाते थे। तब वे इतने तन्मय हो जाते कि सुनने वालों के अंत: पटल पर कथा के प्रसंग सजीव हो उठते।...विदेशी भक्तों के साथ स्वामीजी अंग्रेजी में बातचीत करते थे। पर संन्यासी बन्धुओं के साथ बातचीत में वे बंगला भाषा का प्रयोग करते थे। सुन-सुन कर मैं भी समझने लगा और भजन करते समय साथ-साथ गाने भी लगा। स्वामीजी की आवाज असामान्य थी। रंगमंच के मोरराव कोल्हटकरजी के समान उनकी आवाज तेज थी, पर स्वामीजी की तर्ज मंद सप्तक के खर्ज षड़ज तक जाती थी। भारत के महान गायकों को मैंने देखा और सुना है, पर आवाज का यह जादू मैंने किसी में नहीं पाया।... स्वामीजी लगभग दो घण्टे ध्यानस्थ होकर बैठते थे। जब तक स्वामीजी का ध्यान न टूटता अन्य संन्यासी भी ध्यानस्थ बैठे रहते थे।"

स्वामीजी के ध्यानस्थ होने की यह प्रक्रिया मात्र थामसन हाउस तक सीमित नहीं रहती। निवेदिता लिखती है कि स्वामीजी आसपास के निर्जन वन में रोज लगभग १० घण्टे ध्यानस्थ व्यतीत करते थे। ऐसे ही एक प्रवाह में वे २५ मई, बुधवार को चले और २८ मई, शनिवार को वापस लौटे। समझा जाता है यही वह समय था जब वे अल्मोड़ा से कुछ दूरी पर पश्चिम में स्थित स्यादेवी के शिखर पर तपस्या करने चले गये थे।

स्यादेवी के शिखर पर तीन दिन :—

स्यादेवी (श्यामी देवी) का पर्वत शिखर अल्मोड़ा के पश्चिम में एक ओर कोसी व दूसरी ओर सोल नदियों से घिरा पुराणों में वर्णित काषाय पर्वत है। इसके शिखर पर निर्मित मंदिर बहुत प्राचीन है। एक शिलालेख के अनुसार सम्वत् १११४ में राजापहलचंद्र ने इसे बनवाया था। बाद में रुहेलों ने इसे और कासनी पत्थर से निर्मित मूर्ति को नुकसान पहुँचाया था अतः राजा बाजबहादुरचंद ने इसे पुनः बनवाया। इस मंदिर के आसपास के घनघोर वन में पूज्य श्री सोमवारी बाबा व हैडाखानजी महाराज जैसे संतों ने दीर्घकाल तक तप किया था। इसी तपस्थली में पहुँचे स्वामी विवेकानंद एक लम्बी दूरी व चढ़ाई को पार करते हुए और तीन दिन एक गुफा में ध्यानस्थ हो गये। जब स्थानीय लोगों ने उस स्थान पर आना शुरू किया तब वे विरत हो वापस अल्मोड़ा लौट आये और उन्होंने आकर जो कुछ अनुभव बताया उसे निवेदिता ने अपने संस्मरणों में इस प्रकार लिखा—"वे (स्वामीजी) यह देखकर संतुष्ट हुए कि वे अब भी नंगे पाँव भ्रमण में सक्षम, शीत-उष्ण सहिष्णु तथा स्वल्प अहार से संतुष्ट संन्यासी ही बने हुए हैं, पाश्चात्य निवास उन्हें क्षति नहीं पहुँचा सका है।"

उसे शान्ति में विश्राम मिले :—

सेव्हियर दम्पत्ति के साथ एक सप्ताह अन्यत्र व्यतीत कर स्वामीजी ५ जून को जब अल्मोड़ा वापस आये तो दो प्रमुख शोक समाचार उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे पहला था गाजीपुर के पवहारी बाबा का जिनसे वे बहुत श्रद्धा रखते थे और दूसरा उनके प्रिय भक्त गुडविन का जो कुछ समय से मद्रास में रह रहे थे।

पवहारी बाबा के देह त्याग का सामाचार

उन्हें ५ जून को ही प्राप्त हुआ, उस आघात को अधिक गहरा कर देने वाला जे० जे० गुडविन के निधन का तार उन्हे ६ जून प्रातः दिया गया। कु० मौबिलयोड के अनुसार—जब श्री गुडविन की मृत्यु का तार स्वामीजी को दिया गया तो थामसन भवन के सामने खड़े होकर दूरस्थ पर्वत शिखरों को बड़ी देर तक एकटक देखते हुए उन्होंने धीमे स्वर में कहा—"अब मेरे जनता में भाषण देने के दिन समाप्त हो गये। स्मरण रहे की श्री गुडविन एक कुशल आशुलिपि लेखक थे जिन्होंने स्वामीजी के व्याख्यानों को जनता तक पहुँचाने का अमर कार्य किया था तभी तो उनके कार्यों के प्रति श्रद्धा व प्रेम प्रदर्शित करते हुए स्वामीजी ने कहा था– "उनके उपकार से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। जिन लोगों को मेरे विचारों से किंचित मात्र प्रेरणा प्राप्त हुई है, उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसका प्रत्येक शब्द श्री गुडविन के अथक एवं परम निःस्वार्थ परिश्रम के कारण ही प्रकाशित हो पाया है। उसकी मृत्यु से मैं अपना एक सच्चा मित्र, भक्ति मान शिष्य, तथा एक अद्‌भुत कर्मी खो चुका हूँ।" संक्षेप में कहा जा सकता है श्री गुडविन स्वामीजी के गणेश थे और उनके चले जाने का दुःख वे अपने कोमल हृदय से रंचमात्र के लिए भी जुदा नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जिस स्थान पर उन्हें गुडविन की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ वे वहाँ अब नहीं रहेंगे। गुडविन की स्मृति उन्हें लगातार कचोट रही थी और इसी मनोदशा में उन्होंने एक कविता के द्वारा अपना प्रेम और गुडविन की महान आत्मा के प्रति अपना शुभ आशीर्वाद व्यक्त किया था। शीर्षक था—उसे शांति में विश्राम मिले। इस कविता में उन्होंने लिखा—

"अब तुम बंधन मुक्त हो, तुम्हारी खोज
परमानन्द तक पहुँच गयी,
अब तुम उसमें लीन हो, जो मरण और
जीवन बनकर आता है,
हे परोपकार रत, हे निःस्वार्थ प्राण,
आगे बढ़ो।
इस संघर्षरत विश्व को अब भी तुम सप्रेम
सहायता करो।"

प्रबुद्ध भारत के प्रति :—

सन् १८९६ में मद्रास से प्रकाशित हो रहे प्रबुद्ध भारत, के एक सम्पादक श्री वी० राजम अय्यर का २६ वर्ष की अल्पायु में ही निधन हो जाने का सामाचार स्वामीजी के लिए तीसरा आघात तो था ही, साथ ही यह एक चुनौती के रूप में भी सामने आया था। चुनौती थी पत्रिका को पुनः संचालित करना जो अब मद्रास से सम्भव नहीं लग रहा था। स्वामीजी निर्णय लेने में देर करने वाले न थे। उनके पास न तो अन्तःदृष्टि की कमी थी न दूर दृष्टि की और न ही कार्यकर्ताओं की। उन्होंने अपने अंग्रेज भक्त सेव्हियर को इस पत्रिका के संचालन का भार सौंपने का निश्चय किया जो हिमालय पर उनके अद्वैतज्ञान को सर्पापित मठ के निर्माण के लिए कटिबद्ध थे। इस प्रकार स्वामीजी ने महान् अन्तःदृष्टि से अद्वैतज्ञान को तीव्र कर्मशीलता से जोड़कर उसे व्यावहारिक बनाने के लिए जगत को संदेश देते हुए ही यह निर्णय लिया था; जो आज भी लगातार जारी है। स्वामीजी का लक्ष्य नव भारत के उद्‌बोधन के लिए महान आत्माओं का जागरण भी था। यह सब उनकी प्रसिद्ध कविता 'प्रबुद्ध भारत के प्रति' से दिखाई पड़ता है जो उन्होंने अल्मोड़ा में इसी प्रवास के अंतिम चरण में रची थी। इस कविता में स्वामीजी ने लिखा—

"जागो फिर एक बार।
यह तो केवल निद्रा थी, मृत्यु नहीं थी,

नव जीवन पाने के लिए……

…और संसार से कहो—
जागो उठो सपनों में मत खोये रहो
… साहसी बनो और सत्य का दर्शन करो
उससे तादात्म्य स्थापित करो,
छायाभासों को शांत होने दो,
यदि सपने ही देखना चाहो तो
शाश्वत प्रेम और निष्काम सेवाओं के ही
सपने देखो।"

इस प्रकार कैपटेन सेव्हियर को व्यवस्थापक और अपने शिष्य स्वरूपानंद को सम्पादक नियुक्त कर स्वामीजी ने प्रबुद्ध भारत का पुर्नजिवित किया। स्मरण रहे कि अल्मोड़ा से अगस्त, १८९८ में इन कर्मियों के प्रयास से प्रबुद्ध भारत का पहला अंक प्रकाशित हुआ था जिसमें स्वामीजी की ये तीनों कवितायें प्रकाशित हुई थी। आज भी इसका प्रकाशन स्वामीजी के हिमालय मठ, मायावती से हो रहा है। मायावती भले ही स्वामीजी का मठ बना हो मगर वह 'थामसन हाउस' ही था जिसे स्वामीजी के 'प्रथम हिमालय मठ' व 'प्रबुद्ध भारत के द्वितीय चरण' के कार्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ। जहां स्वामीजी ने अपने भावी कार्यों का गहन चिंतन किया और अपने कर्मियों को तैयार किया। आज भी उनकी स्मृति इस नगर से जुड़ी है। इस भवन से कुछ ही दूरी पर स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी तुरियानंदजी द्वारा सन् १९१६ ई० में स्थापित श्रीरामकृष्ण कुटीर अल्मोड़ा मे स्वामीजी के स्नेह को जगा देने वाली एक ज्योति बनी हुई है।

इसके साथ स्वामीजी के इस अल्मोड़ा प्रवास के समापन का समय आ गया। शोक संवादों से आघातित वे निरंतर असुविधा महसूस करन लगे। लगातार आने वाले पत्र उनके घावों को और हरा कर रहे थे। यह सब देखकर सेव्हियर दम्पत्ति ने उन्हें कश्मीर की यात्रा का सुझाव दिया जिसे उन्होंने तुरंत स्वीकार कर लिया। ११ जून, सन् १८९८ ई० को वे अपनी पश्चिमी शिष्याओं को साथ लेकर कश्मीर की यात्रा के लिए अल्मोड़ा से चल पड़े। यह उनका अंतिम अल्मोड़ा प्रवास सिद्ध हुआ। इसके बाद हम उन्हें अपने हिमालय मठ मायावती में १९०१ में देखते हैं जो उनकी अंतिम हिमालय यात्रा सिद्ध होती है।

—जय स्वामीजी महाराज।

●

इस दुर्लभ मानव-जन्म को पाकर भी जो इसी जीवन में भगवान् को पाने की चेष्टा नहीं करता, उसका मानव जन्म लेना ही बेकार है।

—श्रीरामकृष्ण देव

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

हरि महाराज का महाप्रयाण

१९२२ ई० में वर्षा के प्रारम्भ में पूजनीय हरि-महाराज की पीठ में एक फोड़ा हुआ, क्रमशः वह बहुत पक गया, तुरन्त ही अच्छी चिकित्सा के लिए विशेषज्ञ डाक्टर कलकत्ता से भेजे गये। महापुरुष महाराज इस खबर को सुनकर गम्भीर भाव से बोले थे: 'इस यात्रा में हरि महाराज रहेंगे कि नहीं इसमें सन्देह है। सभी प्रभु की इच्छा।'

ब्रह्मानन्द महाराज के देह त्याग का समाचार सुनकर हरिमहाराज उदास स्वर में बोले थे: 'महाराज चले गये। यह शरीर भी छः महीनें से अधिक नहीं रहेगा।' मठ में हरि महाराज की बीमारी का समाचार मिलते ही सभी के मन में यह बात उदित हुई थी। अन्त में वे सब चिकित्सा व्यर्थ करके हाथ जोड़े 'जय गुरुदेव, जयगुरुदेव, जय रामकृष्ण, जय रामकृष्ण। बोलो, बोलो, वे सत्य-स्वरूप, ज्ञानस्वरूप।' 'ब्रह्मसत्य, जगत् सत्य-सत्य प्राण प्रतिष्ठित'—कहते-कहते २१ जुलाई, (१९२२) शुक्रवार संध्या छः बजकर पैंतालिस मिनट पर इस माया के जगत से चिरविदा लिया। काशी से यह समाचार आने पर महापुरुष महाराज खूब शोकाकुल हो गये।

महापुरुष महाराज बेलुड़ मठ से एक भक्त को २६/७/१९२२ ई०को लिखित पत्र में महाराज के मन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है—'हमलोगों के हरि महाराज गत शुक्रवार २२ जुलाई, संध्या प्रायः सात बजे पूर्वज्ञान के साथ वैदिक महावाक्य और ठाकुर का नाम उच्चारण करते-करते ज्ञान से महासमाधि में लीन हो गये। स्थूलदेह का यही परिणाम है, सभी का देह नश्वर है।

समझ ही रहे हो हमलोगों के मन की अवस्था आजकल कैसी है। अवश्य ही प्रभु चिरविद्यमान हैं—यही ध्रुव सत्य है, नहीं तो इतना दिन रहता नहीं।'

स्वामी तुरीयानन्द का असाधारण त्याग-वैराग्य और तपस्यामय जीवन श्रीरामकृष्ण-संघ के साधु और भक्तमण्डली के ऊपर बहुत प्रभाव डाला था। महापुरुष महाराज विभिन्न समय पर हरि महाराज के सम्बन्ध में गम्भीर श्रद्धा प्रकाशित करते हुए विभिन्न स्थानों पर बहुत-सी बात बताते। गुरुभाइयों के जीवन का महत्व अनुभव करना महापुरुषजी के जीवन का एक विशेष अंग था। वे गुरुभाइयों की प्रशंसा शत से करते। एक बार बेलुड़ मठ में (सम्भवतः १८२७ ई०) हरि महाराज के जन्मदिन के दिन कहा था: 'हरि महाराज महापुरुष थे—शुकदेव की तरह शुद्धसत्व, पवित्र व ज्ञानी थे। बचपन से ही गीता, उपनिषद, विवेकचूडामणि आदि ग्रन्थ खूब पढ़ते थे—यह सब उनको कण्ठस्थ था। वे महाध्यान परायण, निर्जनता प्रिय, योगी व तपस्वी पुरुष थे। स्वामीजी उनको एक तरह से जबरदस्ती अमेरिका ले गये थे। वे ऐसे निष्ठावान सहज में ही क्या जाना चाहते? परन्तु स्वामीजी को खूब प्रेम करते थे, इसीलिए उनकी आज्ञा टाल नहीं सके। उनके जीवन में थोड़ा भी दोष नहीं था—सभी गुण, पूर्णपवित्र जीवन। योग, ज्ञान, भक्ति—सभी उनके जीवन में प्रतिफलित हुआ था।'

महापुरुषजी की दीक्षा देने की पद्धति

दीक्षार्थियों की संख्या बढ़ने लगी एवं प्रायः रोज पाँच-सात लोगों की दीक्षा होने लगी। किसी-किसी दिन अधिक भी। उससे उनकी शारीरिक थकावट खूब होती थी एवं मन भी इतनो उच्च-भूमि में रहता कि, दीक्षा आदि के बाद ठाकुर घर से आकर कुछ देर तक वे बातचीत नहीं करते थे,

गम्भीरभाव से बैठे रहते थे। किसी भी प्रार्थी को वे वापस नहीं लौटाते थे, बहुत हुआ तो कहते 'अभी नहीं, बाद में होगा। ठाकुर के पास कातर होकर प्रार्थना करो, उनको बुलाओ। दीक्षा तो मैं दूँगा नहीं। वे ही जगद्गुरु हैं, वे ही दीक्षा देते हैं। मैं यन्त्र मात्र हूँ।' दीक्षा के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने की बात थी। दीक्षाप्राथियों में बहुत से पहले से बातचीत करके दिन निश्चित करके नहीं आते थे, वे लोग मानों दैव-प्रेरित होकर एक अज्ञान आकर्षण से उनके पास दीक्षा के लिए आते थे। इसीलिए रोज प्रात:काल देखा जाता कि विभिन्न स्थानों से आकर कई दीक्षार्थी गंगास्नान करके पूजा का उपकरण लिए अपेक्षा कर रहे हैं। वे भी प्राय: प्रतिदिन कहते : नीचे जा कर देखो कोई दीक्षार्थी है कि नहीं।' प्राय: प्रतिदिन दिखाई पड़ता कि कई लोग दीक्षा लेने के लिए गंगा स्नान करके पूजा का उपकरण लेकर अपेक्षा कर रहे हैं। उनमें से अनेक पूर्व परिचित नहीं हैं, विभिन्न स्थान से दीक्षाप्रार्थी होकर आये हैं। वे सब सुन कर कहते : 'सभी को ठाकुर प्रणाम करके मन्दिर में आने को कहो।' इधर वे भी कपड़ा बदल कर गंगा जल से हाथ-मुँह धोकर, आचमन करके पूजा शेष होकर ही मन्दिर जाते। जितने दिन महापुरुष जी मन्दिर जाते उतने दिन मन्दिर में जाकर ठाकुर की पूजादि करके दीक्षा देते थे। पुजारी-महाराज पूजा की सब व्यवस्था करके सामाचर देते। महापुरुषजी मन्दिर में आकर प्रथम ही ठाकुर को प्रणाम करके पूजा के आसन पर बठते एवं ठाकुर पूजा एवं ठाकुर की पादुका पर अंजलि प्रदान कर दीक्षार्थिओं में से एक-एक को बुलाते। स्वामी को एक साथ दीक्षा देने के अतिरिक्त, प्राय: प्रत्येक को वे अलग से दीक्षा देते। कदाचित् एक परिवार के होने पर तीन-चार लोगों को एक साथ, एक ही मन्त्र की दीक्षा प्रदान करते। प्रत्येक को अलग दीक्षा दने से बहुत समय लग जाता था। दीक्षा के बाद सभी को अलग से वे जप व ध्यान की पद्धति सिखा कर नाना-उपदेश देते एवं प्रत्येक को ठाकुर प्रणाम करके बरान्डे में बैठ कर कुछ देर तक जप करने का निर्देश देकर कहते : 'खूब प्राण के साथ जप करना। भगवान प्राण देखते हैं। यदि आंतरिक भाव से एक सौ आठ बार जप करो, तो उससे हजार जप का फल होगा। -··· गुरु दक्षिणा एक हरि देने से भी होगा।'

दीक्षा के समय 'किसका क्या' भाव है, किसको कौन देवता अच्छे लगते हैं एवं कुल देवता के सम्बन्ध में वे जिज्ञासा करते --एवं सब जान कर वे उसी प्रकार दीक्षा देते। दीक्षार्थिओं में कोई कहता कि उसको ठाकुर के आदेश मिला है, कोई कहता श्रीश्री माँ ने स्वपन में आदेश दिया है, कोई कहता, स्वप्न में उन्होंने दीक्षा दिया है, इसे हमलोगों ने प्राचीन साधुओं से सुना है कि, वे ध्यान कर ठाकुर के पास जो मन्त्र पाते वही शिष्य को सुनाते, ऐसा भी हुआ है-- कोई भक्त पहले महापुरुषजी से स्वप्न में मन्त्र पाया है, बाद में दीक्षा के समय उन्हें वही मन्त्र उसको देकर पूछा : 'कैसा ठीक हुआ है तो शिष्य भी कहता : 'हाँ महाराज, यही मंत्र आपने स्वप्न में दिया था।' और ऐसा भी होता कि, वे दीक्षार्थिओं से कुछ पूछे बिना ही मन्त्र देते—फिर भी प्रत्येक को वंशानुगत एवं प्रकृतिगत मन्त्र ही मिलता।

महापुरुषजी के पास से मन्त्र मिलते ही किसी-किसी शिष्य को अश्रु पुलक होता, कोई-काई गंभीर ध्यान मग्न हो जाता। एक दिन प्रात: काल एक सिन्धु देश के वासी दीक्षा प्रार्थी भक्त आयें। उनको महापुरुषजी के घर लेकर जाते ही भक्त से परिचित की तरह बातचीत की। भक्त ने जब उनका पैर पकड़ कर कांपते-कांपते जब बोले 'मुझे, कृपा कीजिए। खुदा मिलने का रास्ता बतला दीजिए।' खूब अभिभूत होकर भक्त के सिर पर हाथ रख कर आशिर्वाद करते हुए भावस्थ होकर

बोले : 'होगा, बेटा होगा ! तुम्हारे ऊपर ठाकुरजी का कृपा हुआ है। तुमको उनके चरणों में अर्पित कर दूँगा।' यथासमय मन्दिर में जाकर उन्होंने भक्त को दीक्षा दिया। उस दिन और कोई दीक्षार्थी नहीं था। मन्त्र पाने के साथ-ही-साथ भक्त को खूब अश्रु-पुलक होने लगा एवं साथ-ही-साथ वे गंभीर ध्यान में मग्न हो गये। महापुरुषजी तब तक मन्दिर में प्रतीक्षा कर रहे थे। भक्त के ध्यान भङ्ग होने पर वे उसको साथ लेकर अपने घर ले आये एवं प्रसाद तथा जल खिलाया। भक्त का ध्यान भाव तब भी भंग नहीं हुआ था। महापुरुषजी के घर में आकर भी वे ध्यानस्थ हो गये। इधर महापुरुषजी भी आनन्द से अपने घर में पदचारण करते हुए, हाथ ताली देकर गाने लगे : 'सद्‌गुरु पाये भेद बतावे, ज्ञान कर उपदेश। तब कोयला की मैला छूटे जब आग करे परवेश।' उनका अर्द्ध मुद्रित नयन वे भावस्थ होकर पदचारण करते करते हाथताली देकर गीत गा रहे हैं, भक्त भी ध्यानस्थ। आधे घण्टे बाद भक्त का ध्यान भंग होने पर महापुरुषजी ने उनको पास बैठा कर मृदु स्वर में साधन-भजन के नाना उपदेश दिये। उनके उपदेश का सारांश था — शरणागति श्रीरामकृष्ण-चरण में अनन्य शरण लेने पर भक्त को आगे कोई भावना नहीं रहती। भक्त प्रसाद पाकर कलकत्ता चले गये। महापुरुजी को उस दीक्षा को देकर इतना आनन्द हुआ, कि मानो वे अपना भाव रोक नहीं पा रहे हैं तन्मय होकर बार-बार बोलते थे : आहा! क्या भक्ति शरणागत, शरणागति।···जय प्रभु। वे युगावतार कितने लोगों को कितने भाव से कृपा कर रहे है! कहाँ सिन्धु देश और कहाँ बेलूड़ मठ। ठाकुर के पास सिन्धुदेश का भक्त हीरानन्द आता था।···धन्य प्रभु आँख बन्द किए हुए इसी प्रकार कहते-कहते उनका पूरा मुखमण्डल लाल हो गया, वे चुप हो गए।

इसी समय एक दिन प्रातःकाल स्वामी शुद्धानन्द महाराज ने महापुरुजी को प्रणाम करके कहा ! 'आपके तो प्रायः रोज ही कुछ-कुछ भक्त दीक्षा लेने आते हैं, इन सब भक्तों का नाम पता जानने से हम मठ से उनके पास उत्सवादि के निमन्त्रण पत्र भेज सकते हैं, उससे उत्सवादि अच्छी प्रकार से हो सकते हैं एवं भक्तों के मठ का योगायोग भी रहेगा।' सुधीर महाराज की बात सुन कर महापुरुषजी बोले : 'जो लोग दीक्षा लेने आये हैं, उनके नाम आदि मैं कभी नहीं पूछता हूँ। मैं जानता हूँ कि ठाकुर ही भक्तों को लेकर आते हैं। तो तू यदि कहते हो— तो भक्तों का नाम पता लिख कर रखने की व्यवस्था करता हूँ।' एवं मेरी ओर देख कर बोले : 'कल से जो दीक्षा लेंगे उनका नाम पता लिख कर तुम सुधीर को देना।' मैंने उसी दिन से ऑफिस से लाइन किया हुआ एक रजिस्टर लाकर दिया दूसरे ही दिन से जो लोग दीक्षा लेते उनका नाम पता लिख कर रखने लगा। किन्तु यह कार्य क्रमशः केवल मेरे द्वारा करना असम्भव हो गया। क्योंकि जो दीक्षा लेने आये उनमें से बहुत से पहले से बातचीत करके नहीं आये थे एवं सभी अन्न प्रसाद भी नहीं पाते थे, जो लोग प्रसाद पाते उनमें से कोई-कोई प्रसाद पाकर गङ्गा में हाथ-मुँह धोकर घर चले जाते। इसके अलावा पहले से बातचीत नहीं, अचानक नाम पता लिख लेना — वह भी बहुत से लोग पसन्द नहीं करते थे। इसलिए तीन चार माह कोशिश करके सौ से अधिक नाम-पता लिखकर महापुरुष को बताते ही वे बोले : 'जितना लिख सके हो सुधीर को दे दो। सुधीर ने ही माँगा था।' इसीलिये किया। इसके बाद महापुरुषजी ने दीक्षित भक्तों का नाम-पता लिखकर रखने की कोई चेष्टा नहीं की।

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।